अंक : १०५

जनवरी - मार्च २००९

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

अमर स्नेह, कैलाश चंद्र जायसवाल, उर्मि कृष्ण,
अंबला जनार्दन, सुभाष नीरव

आमने - सामने

सुभाष नीरव

१५ रूपये

जनवरी-मार्च २००९
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"
संपादिका
मंजुश्री
संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
जय प्रकाश त्रिपाठी
अश्विनी कुमार मिश्र
हम्माद अहमद ख़ान

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

●सदस्यता शुल्क●
आजीवन : ५०० रु., **त्रैवार्षिक** : १२५ रु.,
वार्षिक : ५० रु.,
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा केवल **"कथाबिंब"** के नाम ही भेजें.

●रचनाएं व शुल्क भेजने का पता●
ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८.
फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८

●**"कथाबिंब" वेबसाइट पर उपलब्ध**●
www.kathabimb.com

e-mail : kathabimb@yahoo.com
(कृपया रचनाएं भेजने के लिए ई-मेल का प्रयोग न करें.)

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक :
सुभाष गिरी
फोन : ९३२४०४७३४०

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

।। ७ ।। टूटा खिलौना / **अमर स्नेह**
।। १३ ।। मकड़जाल / **कैलाश चंद्र जायसवाल**
।। १७ ।। चुटकी भर सिंदूर बिना / **उर्मि कृष्ण**
।। २१ ।। संबंध (तेलुगु कहानी) / **अंबला जनार्दन**
।। २८ ।। रंग बदलता मौसम / **सुभाष नीरव**

लघुकथाएं

।। १२ ।। भीड़-तंत्र / **विजय शंकर विकुज**
।। ४१ ।। मालती भाभी / **आनंद बिल्थरे**
।। ४७ ।। भोलापन / **उर्मि कृष्ण**
।। ५० ।। समझौते की दीवाली / **कुंवर प्रेमिल**

दोहे / कविताएं / ग़ज़लें / गीत

।। १६ ।। हैरत में बेताल / **अशोक अंजुम**
।। ४७ ।। कुंडलियां / **कपिल कुमार**
।। ४८ ।। ग़ज़लें / **कपिल कुमार, प्रो. भागवत प्रसाद मिश्र**
।। ४९ ।। बिन पानी सब सून, तुम्हारी हंसी / **डॉ. अनंतराम मिश्र**
।। ५० ।। उद्विग्न क्यों है मन ? / **डॉ. रामदुलारे लाल पाठक**
।। ५० ।। फ़र्क तो मुझमें भी आया / **गोपाल कृष्ण सक्सेना**

स्तंभ

।। २ ।। "कुछ कही, कुछ अनकही"
।। ४ ।। लेटर बॉक्स
।। ३२ ।। "आमने-सामने" / **सुभाष नीरव**
।। ४० ।। "बाइस्कोप" (*सविता बजाज*) / **इस्मत चुग़ताई**
।। ४२ ।। पुस्तक-समीक्षाएं

आवरण चित्र : डॉ. अरविंद
(नारियल-निकुंज : दिवे आगार, रायगढ़, महाराष्ट्र)

"कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

कुछ कही, कुछ अनकही

"कथाबिंब" के प्रकाशन का एक वर्ष और पूर्ण हुआ. इतने सालों के बाद भी प्रकाशन संबंधी समस्याएं कमोबेश पहले जैसी हैं. हर अंक का निकालना आज भी आग के शोलों पर से गुज़रने जैसा ही है – एक अग्निपरीक्षा ! पर्याप्त विज्ञापन न मिलने पर अंक के रिलीज़ होने में न चाहते हुए भी विलंब हो जाता है. कुछ वर्षों से "संस्कृति संरक्षण संस्था" का सहयोग अवश्य मिलने लगा है. पर इसके चलते संस्था के आयोजन भी श्रम और समय की मांग करते हैं. संस्था के कार्यक्रमों के लिए अलग से धनराशि को जुटाने के लिए भी उन्हीं स्रोतों पर बार-बार निर्भर करना पड़ता है जिनका उपयोग पत्रिका प्रकाशन में होता आया है. इस तरह बात घूम फिरकर वहीं अटक जाती है. हां, ३० साल की अवधि में "कथाबिंब" ने कथाप्रधान पत्रिका के रूप में एक निश्चित पहचान बना ली है. हमें पर्याप्त लेखकीय सहयोग प्राप्त हो रहा है. पत्रिका के आजीवन सदस्यों की संख्या १८० से अधिक हो गयी है. कई बार, दूर-दराज से कोई आजीवन सदस्यता का मनीऑर्डर भेज देता है तो मन आल्हादित हो जाता है. इसी तरह जब कभी कोई पाठक पत्र लिख कर बताता है कि जाने कबसे उसने "कथाबिंब" के अंक जमा करके रखे हैं तो भी मन आनंदित हो जाता है, अपने प्रयासों की सार्थकता महसूस होती है.

इस अंक में, पृष्ठ ५२ पर ***"कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार २००८"*** के पुरस्कारों की घोषणा की गयी है. सभी पुरस्कार विजेता कथाकारों को हार्दिक बधाई एवं उनका अभिनंदन !

पिछले अंक में ग़लत जानकारी के आधार पर यह सूचना चली गयी थी कि "नवनीत" के भूतपूर्व संपादक श्रीयुत नारायण दत्त जी अब हमारे बीच नहीं हैं. मैं इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूं. अंक के मिलते ही कई फ़ोन आये कि यह ख़बर सही नहीं है. मैंने तुरंत बैंगलौर फ़ोन किया और आदरणीय नारायण दत्त जी से माफी मांगी. विनम्रता की प्रतिमूर्ति नारायण जी ने कहा कि कोई बात नहीं, शास्त्रों के अनुसार ऐसे समाचारों से तो आयु बढ़ जाती है. हमारी कामना है कि श्रीयुत नारायण दत्त जी शतायु हों !

●

आइए, अब कुछ इस अंक की कहानियों पर – पहली कहानी *"टूटा खिलौना"* (अमर स्नेह) एक छोटी बच्ची की कहानी है जिसकी मां उसके साथ नहीं रहती. किन्हीं कारणों से पिता ने मां को घर से बाहर कर दिया है. बच्ची का बाल मन नहीं समझ पाता कि ऐसा क्यों है. *"मकड़जाल"* में कैलाश चंद्र जायसवाल ने रेखांकित किया है कि कोई ईमानदार आदमी ग़लत काम नहीं करना चाहे तो भी अपने हितों के लिए बाहुबली जबरदस्ती उससे ग़लत काम कराना चाहते हैं. ऐसे में ईमानदार आदमी की स्थिति जाल में फंसी मकड़ी सदृश्य हो जाती है. उर्मि कृष्ण की कहानी *"चुटकी भर सिंदूर बिना"* एक ऐसी औरत की कहानी कहानी है जो अपनी ज़िंदगी बिना शादी के एक आदमी और उसके बच्चों की सेवा-टहल में निकाल देती है. किंतु समाज इस संबंध को मान्यता नहीं देता. वृद्धावस्था में यह स्त्री पूरी तरह एकाकी हो जाती है. तेलुगु लेखक अंबला जनार्दन *"संबंध"* के माध्यम से यह दिखाना चाहते हैं कि किसी के कहने में नहीं आना चाहिए. बिजनेस हथियाने के लिए कुछ लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए संबंधों में दरार पैदा कर देते हैं. किंतु एक बार संबंध का धागा गर टूटा तो उसका जुड़ना असंभव ही होता है. सुभाष नीरव की कहानी *"रंग बदलता मौसम"* अंक की दूसरी कहानियों से कुछ भिन्न है. एक अलग मिजाज की कहानी है. मनीष को ख़बर मिलती है कि जिस रंजना को वह मन ही मन प्यार करने लगा था वह कुछ घंटों के लिए ही सही उसके साथ होगी. एकाएक उसे दिल्ली का मौसम ख़ुशगवार लगने लगता है. पर दिन चढ़ने के साथ ही मौसम का रंग भी बदलने लगता है.

●

एक बार फिर सारे देश पर चुनावों का मौसम छाया हुआ है. पुराने गठबंधन टूट रहे हैं और नित नये गठबंधन बनाने की कोशिशें की जा रही हैं. ऊंट किस करवट बैठेगा यह किसी को नहीं मालूम है. बहुत-सी कुकुरमुत्ता पार्टियां पैदा हो गयी हैं. इससे पहले कि विस्तार से चुनावी माहौल की बात की जाये, आइए, पहले *"स्लम-डॉग मिलेनायर"* पर कुछ दृष्टिपात करें. अपने न्यूयॉर्क प्रवास में, दिसंबर ०८ में यह फ़िल्म देखने का अवसर मिला. तब तक हिंदुस्तान में इस फ़िल्म के बारे में किसी को ज़्यादा जानकारी नहीं थी, निर्देशक कौन है, कौन लोग काम कर रहे हैं, कहानी क्या है ? बहुत दिनों से कोई भारतीय पिक्चर नहीं देखी थी, सोचा कि चलो देखें कि अजीब से नाम वाली हिंदुस्तान पर आधारित अंग्रेजी फ़िल्म में क्या है ? शाम का समय था, कड़ाके की ठंड थी. टिकट-खिड़की के सामने लंबी लाइन थी. सौभाग्य से टिकट मिल गये. अंदर पहुंचे तो हाल खचाखच भरा था. फ़िल्म शुरू हुई. अरे, यह क्या ! यह तो अपनी मुंबई की कहानी है. किंतु जैसे-जैसे पिक्चर आगे बढ़ती रही, हमारे सिर शर्म से झुकते गये. पूरे हाल में हम तीन व्यक्तियों को छोड़कर सभी अमरीकी थे जो बहुत ही ध्यान से पिक्चर देख रहे थे. पत्नी ने तो यहां तक कहा कि आधे में ही फ़िल्म छोड़कर घर चलना चाहिए. पर शायद यह ठीक नहीं लगता. लेकिन *" जय हो !"* गाने को बीच में ही छोड़कर हम लोग बाहर आ गये. रात का अगला शो देखने के लिए लोग-बाग कतार में खड़े थे.

पूरी फ़िल्म में भारत को लेकर कुछ भी अच्छा नहीं दिखाया गया है. चाहे टीवी का *"कौन बनेगा करोड़पति"* कार्यक्रम हो, पुलिस का व्यवहार हो, विदेशी पर्यटकों की ठगने की घटनाएं हों, भीख मांगने वाले बच्चों के अंग भंग करने वाले सिंडिकेटों की बात हो या फिर मुंबई का माफिया, इस देश में हर क्षेत्र में बेईमानी, धूर्तता और घोटाला ही होता रहता है. एशिया की सबसे बड़ी झोपड़पट्टी धारावी भी इसी मुंबई में है, जहां कीड़े-मकोड़ों की तरह आदमी रहते हैं. जन-साधारण को किसी तरह की नागरिक सुविधाएं उपलबध नहीं हैं. जरा गौर करें कि इस फ़िल्म के माध्यम से विश्व में कौन-सा संकेत गया है. एक तरफ तो हम कहते नहीं थकते कि बहुत जल्दी भारत सुपर पॉवर के रूप में उभर रहा है. *"स्लम-डॉग मिलेनायर"* फ़िल्म इस बात का पूरी तरह खंडन करती है. दुनिया वालों देखो जो देश सुपर पॉवर बनने के सपने देख रहा है, दरअसल वहां की सच्चाई क्या है. ए. आर. रहमान ने न जाने कितनी फ़िल्मों में बहुत बेहतर संगीत दिया है. और सारा देश आठ-आठ ऑस्कर अवार्ड पा कर जश्न मना रहा है ! क्या इसी तरह भारत देश की जय होगी ? कई राज्यों ने फ़िल्म को मनोरंजन कर की छूट दी है. लेकिन हिंदी में डब की गयी फ़िल्म दिखाने वाले सिनेमा हाल खाली जा रहे हैं.

●

इस अंक के छपते-छपते तीसरे दौर का मतदान समाप्त हो जायेगा. आधे से कुछ ज़्यादा उम्मीदवारों का फैसला ई. वी. एम. मशीनों में बंद हो जायेगा. स्थिति पूरी तरह धुंधली है. बस इतना ही कि किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त होगा. एक बार फिर वही खींचतान, पैसे का खेल और मंत्रियों के पदों को लेकर घींगामुश्ती. और अंत में कॉमन मिनीमन साझा कार्यक्रम ! इस बार अन्य कारकों के अलावा एक नया कारक *"जूता -फैक्टर"* भी सामने आया है. जूता मारा किसी को जाता है, पर लगता किसी को है. किसी गंभीर मुद्दे के अभाव में गाली-गलौच का माहौल भी गरम है. कौन कमजोर और कौन मजबूत, इस पर बहसें हो रही हैं. रोज आचार-संहिता का उल्लंघन हो रहा है. चचेरे भाई वरुण और राहुल गांधी चुनावी मैदान में हैं. दो परिवारों का आपसी मनमुटाव खुलकर सामने आ रहा है. मीडिया आग में घी डालने की अपनी भूमिका बखूबी निभा रहा है.

पहले चरण में नक्सली हिंसा में मरने वालों की संख्या में अतुलनीय वृद्धि हुई है. ऐसे में, इन्हीं दिनों यदि आई. पी. एल. का २०-२० क्रिकेट मुकाबला भी देश में ही चल रहा होता तो क्या होता ? एक और बात जहन में आती है कि जम्मू-कश्मीर को लेकर कहा जाता है कि वहां आतंकवाद में कमी आयी है. लेकिन अब भी घुसपैठ निरंतर जारी है. जितने घुसपैठिए मरते हैं, उतने ही सुरक्षा-कर्मी शहीद होते हैं. इसका वार्षिक आंकड़ा कितना है ? क्या इस अघोषित युद्ध को रोकना बिलकुल असंभव है ? आज का सबसे ज्वलंत मुद्दा आतंकवाद और देश की सुरक्षा है. देश ही सुरक्षित नहीं होगा तो किसी प्रकार का विकास नहीं हो सकता न बिजली, पानी और सड़क की समस्याओं से पार पाया जा सकता है. पर इस संबंध में कोई दल कुछ नहीं कहता ! आम मतदाता पूरी तरह दिगभ्रमित है.

●

२६ नवंबर ०८ को मुंबई में हुए आतंकी हमले के बाद से मीडिया पर अंकुश लगाने की बातें की जा रही थीं. लेकिन सरकार द्वारा दिये गये सुझावों को मानने के लिए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तैयार नहीं हुआ. हां, सेल्फ-रेगुलेशन की बात सामने अवश्य आयी. यह देश का दुर्भाग्य है कि हमारा मीडिया पूरी तरह तथाकथित वामपंथी विचारकों द्वारा नियंत्रित किया जा रहा है. किसी झूठ को आप २४ घंटे दिखाते रहिए तो वह सच हो जाता है. गुजरात में, २००२ में हुए दंगों की जांच के लिए केंद्र द्वारा स्थापित विशेष जांच समिति की रिपोर्ट अभी कुछ दिन पूर्व उच्चतम न्यायालय के सम्मुख पेश की गयी. इस समिति के सदस्यों में थे सीबीआई के भूतपूर्व निदेशक श्री के. राघवन, भू. पू. पुलिस महानिदेशक सी. बी. सतपति और तीन वरिष्ठ आईपीएस अधिकारी – गीता जौहरी, शिवानंद झा एवं आशीष भाटिया. इस रिपोर्ट में जस्टिस ऑफ पीस स्वयंसेवी संस्था की अध्यक्षा तीस्ता सेतलवाद की भूमिका पर गंभीर सवाल उठाये गये हैं. बलात्कार के बाद कसूर बानो का पेट फाड़कर बच्चे को मारने को बार-बार प्रचारित करना जो सर्वथा झूठ था. कम से कम २२ गवाहों ने अपने बयानों को वापस को वापस लिया है. उनका कहना है कि अंग्रेजी में टाइप किये गये हलफ़नामों पर उनके हस्ताक्षर लिये गये थे या अंगूठे लगवाये गये थे. ये सभी एक-से और कंप्यूटर पर बनाये गये थे. यदि याद करें कि ज़ाहिरा शेख के मुकदमे को गुजरात से मुंबई में लाया गया था और मीडियावाले इसी तीस्ता सेतलवाद का चेहरा रोज-रोज टीवी पर दिखाते थे. ज़ाहिरा शेख ही वह महिला थी जिसने सेतलवाद की भूमिका पर पहली बार उंगली उठायी थी तो उसे रातोंरात ग़ायब कर दिया गया. ऐसा नहीं है ज़्यादतियां नहीं हुई हैं. इसमें दो मत नहीं हो सकते कि जो कुछ हुआ वह बहुत ग़लत हुआ. लेकिन उसे बढ़ा-चढ़ा कर मीडिया ने पेश किया वह भी ठीक नहीं था. गुजरात के बाद से देश में हुए हर आतंकी हमले को मीडिया २००२ से जोड़ देता है. कम से कम विशेष जांच समिति की रिपोर्ट आ जाने के उपरांत इस संदर्भ में अपनी भूमिका पर पुन: विचार करेगा, ऐसा सोचना ग़लत नहीं होगा और तीस्ता सेतलवाद पर कचहरी में अपेक्षित कार्यवाही होगी !

अरविंद

लेटर बॉक्स

V 'कथाबिंब' का नया अंक १०४ समय पर मिल गया था. ''कोढ़ फूटेगा'' पर दो दर्जन से ज़्यादा ख़त मुझे मिले और इस अंक में भी कई उत्साहवर्धक पत्र छपे हैं. यह इस बात का भी द्योतक है कि पाठकों के बीच ''कथाबिंब'' कितनी मकबूल और प्रतिष्ठित पत्रिका है. यह आपकी पारखी दृष्टि का भी कमाल है जिसे पाठकों ने सराहा है. यह ''कथाबिंब'' की लोकप्रियता की मिसाल भी है.

इस अंक का संपादकीय भी विचारोत्तेजक है. आपने सही फरमाया है, देश की एकता, अखंडता और इसकी संपूर्ण सुरक्षा के लिए कठिन से कठिन क़दम उठाना बेहद ज़रूरी हैं. राजनीति ने हर धर्म-संप्रदाय में देव, असुर और शैतान पैदा कर दिये हैं. इनका समूल नाश ही राष्ट- की एकता, अखंडता की गारंटी दे सकता है. राजनीति सुधरेगी तो तय है, देश भी सुधरेगा. ऐसा हो, इसके लिए पूरे देश में, एक ग़ैर-राजनीतिक ''दबाब समूह'' बनाने की ज़रूरत है और यह काम हम लेखकों को ही करना चाहिए. आप भी सोचें, अब सिर्फ शब्दों तक सीमित रहने से फर्ज़ पूरा नहीं होनेवाला.

X **नूर मुहम्मद ''नूर'',**
सी.सी.ए.क्लेम्स ला सेक्शन,
३ कोयला घाट स्ट-ीट, कोलकाता- ७००००१

V ''कथाबिंब'' का अंक १०४ मिला, आभार. शानदार संपादकीय के साथ ही चारों कहानियां प्रभावी हैं. किंतु ''बंटवारा'' कहानी ने संवेदना एवं रिश्तों की खटास ने सीमाएं लांघ दीं. साधुवाद. संतोष की कहानी तो हमेशा हृदय को झकझोरती है. आपका चयन कमाल का होता है. लघुकथाओं में भी मतदाता, आदमीपन, चाल एवं बेबसी भी प्रभावी हैं. आमने-सामने और सागर-सीपी स्तंभ की रचनाएं भी हर बार नये रूप में मन को मथती हैं. स्तरीय संपादन एवं मुद्रण हेतु बधाई स्वीकारें.

X **मदन मोहन उपेंद्र,**
सं. सम्यक, ए-१०, शांति नगर, मथुरा

V ''कथाबिंब'' का १०४ वां अंक मिला. श्रीमती पुष्पा भारती जी के साथ अरविंद जी को चित्र में देख कर परिचय ताज़ा हो गया. अंक की सभी कहानियां अच्छी हैं. ''माई बाड़ा'' एक दुखांत कहानी है जो मुझे भी रुला गयी और मेरी सोच ज़्यादा गहरा गयी कि औरत, आख़िर औरत की ही दुश्मन है. यह सच धरती पर तब तक अवतरित होता रहेगा जब तक जीवन है और औरत मर्द का खेल चलता रहेगा. औरत पुरुष में प्यार ढूंढ़ती रहेगी और पुरुष, औरत में उसका शरीर. सुधीर की दृष्टि बड़ी पैनी है. वे बधाई के पात्र हैं.

संतोष श्रीवास्तव की ''मृग-मरीचिका'' आम इंसान की भावनाओं से जुड़ी हुई है और यही आम इंसान जीवन भर मोह-माया से छुटकारा नहीं पा सकता भले ही वह सोने के महल में रहता हो. कहानी की भाषा सरल है, कटाक्षवाली जो किसी भी आदमी के सीने को छलनी कर जाये. इस छल-कपट की दुनिया में सिर्फ़ आम आदमी ही तो अधिक छला जाता है. संतोष ने अपने मन की थाह पाठकों तक पहुंचा दी. कृष्ण-सुकुमार की कहानी ''बंटवारा'' घर-घर की कहानी है. क्योंकि मानव छल-कपट से भरा एक इंसान है जो समय आने पर अपने मतलब के लिए सुख की चाह में दुख की खेती बोता है. अंक की सभी लघुकथाएं बढ़िया हैं. थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह जाती हैं.

अक्तूबर-दिसंबर ०८ के ''बाइस्कोप'' स्तंभ में मैंने रजिंदर सिंह बेदी जी के संस्मरण में लिखा था कि फ़िल्म ''उसकी रोटी'' की कहानी खुशवंत सिंह जी ने लिखी थी. एक रचनाकार सुरेंद्र जी ने जालंधर से फ़ोन करके मुझे अहसास कराया कि यह कहानी मोहन राकेश ने लिखी थी. मैं पाठकों से इस त्रुटि के लिए माफ़ी चाहती हूं क्योंकि बात काफ़ी पुरानी हो गयी थी.

X **सविता बजाज,** द्वारा श्री साईनाथ एस्टेट,
डी- ३, विंग-बी, सह्याद्री नगर,
चारकोप, कांदिवली (प.), मुंबई- ४०० ०६७.

V ''कथाबिंब'' का अंक १०४ देख-पढ़कर हृदय कृत-कृत हो गया. मुखपृष्ठ पर ही मात्र निग़ाहें नहीं लगी रहीं वरन् आवरण पृष्ठ की उल्टी ओर न्यूयॉर्क प्रवास की कुछ

झलकियां जैसे- लिबर्टी की मूर्ति, क्रिसमस की सजावट का चित्र, ब्रुकलिन ब्रिज, डब्लू टी सी के स्थान पर उजाले की शहतीरें, साथ में आदरणीय मंजुश्री ''भारती'' की भांति खड़ी भारतीय विद्याभवन के कॉरीडार में एवं सभागृह में डॉ. जयरामन, श्रीमती पुष्पा भारती एवं किसी भारतीय नौजवान जैसे दिखते हुए ''कथाबिंब'' के प्रधान संपादक डॉ. माधव सक्सेना ''अरविंद'' दर्शनीय एवं भावुक लग रहे हैं.

''कुछ कही, कुछ अनकही'' में यह पढ़कर अपार कष्ट हुआ कि राजभाषा अधिकारी श्री राजीव सारस्वत को २६ नवंबर को आतंकियों ने हमसे छीन लिया. निर्दोष व्यक्तियों को जो लोग मार रहे हैं, अब उनको ही उनके भाई दुत्कार रहे हैं. कर रहे हैं पाप सुबह-शाम ये सभी. इन पर विदेशी धूर्त फंदे डाल रहे हैं. पता नहीं इस मारकाट पर ये मति फिरे कब और कैसे लगाम लगायेंगे?

X जे. पी. टंडन ''अलौकिक''

२/१४७, खतराना, फर्रुखाबाद (उ.प्र.)

V ''कथाबिंब'' का अक्तूबर-दिसंबर ०८ का अंक सामने है. आपकी न्यूयॉर्क यात्रा के चित्रों में श्रीमती पुष्पा भारती जी का चित्र देख कर आंख भर आयी. यूं ही प्रेम व श्रद्धावश. उनसे मुलाकात हुए भी १५ वर्ष बीत गये. आपका शुक्रिया कि आपने आंटी जी का ताज़ा चित्र प्रकाशित किया.

नंद किशोर नौटियाल जी जो देश के वरिष्ठ पत्रकार हैं उनका साक्षात्कार अच्छा लगा. डॉ. राजम पिल्लै के अंतिम सवाल में आखरी वाक्य-''अब आप भगवत कथा और राम कथा.....यह पाली बदलना नहीं है?'' नौटियाल जी उस सवाल को टाल गये. पता नहीं बड़े-बड़े वामपंथी उम्र के आखरी मोड़ तक आते-आते अध्यात्म की शरण में आ जाते हैं. कई दफा बड़ा अफसोस होता है. देश के नामवर वामपंथी इतिहासकार इरफान हबीब को ले लीजिए. जब अयोध्या में चल रही खुदाई की तस्वीरें अख़बारों में छप रही थीं उसी दौर में हबीब साहब का ईमान डोल गया और मस्जिद के पक्ष में ऐतिहासिक समझवाले लेख लिखने लगे. इसी तरह एक अच्छा खासा हिंदुस्तानी, ''सारे जहां से अच्छा, हिंदोस्तां हमारा.....'' लिखनेवाला शायर डॉ. इकबाल दर्शन शास्त्र में पीएच.डी. करने इंग्लैंड क्या गया, एक धर्म विशेष का हो गया. लेखन में सच का ईमान कायम रखना कितना मुश्किल है?

आपकी पत्रिका का ''आमने-सामने'' स्तंभ बड़ा उपयोगी है. लिखने की आत्मा टटोलने का प्रयास है. मेरे विचार में अगर कोई प्रकाशक तैयार हो जाये तो इसका संकलन भी छापा जा सकता है. मुश्किल यह है कि पढ़ेगा कौन? जरा कड़वी बात है, आजकल लेखकों की फसल भी दूसरे को पढ़ना नहीं चाहती. अपने को ही पढ़कर, अपनी पीठ थपथपाती व दूसरों से पढ़ने का अनुरोध करती नज़र आती है. अपना लिखे को जो दूसरों को पढ़ाने के लिए चाय पिलाये, ख़ुशामद करे, क्या वह लेखक है? लिखने से पहले समाज, देश के पेट में उतर जाना आसान नहीं है. जो उतरे हैं वे बरसों बाद आज भी ज़िंदा हैं, अपनी रचनाओं के माध्यम से.

''क़स्बे में क़हर के वे दिन'' कहानी में विद्याभूषण ने शहर की बदलती तस्वीर का जो ख़ाका खींचा है, वह बनावटी नहीं है. एक रिपोर्टर का रिपोर्टताज है. कहानी पसंद आयी. सुशांत प्रिय की कविता ''लौट आऊंगा मैं'' अच्छी लगी. यह कविता जबरदस्ती नहीं लिखी गयी है. वरिष्ठ कवि अज्ञेय ने १९८१ में एक जुमला कहा था- कविता आपके पास आये, तभी उसे लिखो.

X आनंद शर्मा,

हकीम कन्हैयालाल मार्ग,

२०९ बिहारीपुर, बरेली (उ. प्र.) २४३००३

V मैं ''कथाबिंब'' का पुराना ग्राहक एवं पाठक हूं. पहले मैं स्थानीय महाविद्यालय में मुख्यलिपिक के पद पर कार्यरत था तथा १९९० में सेवानिवृत्त हो गया. आज भी मेरी आलमारी में ''कथाबिंब'' की सारी प्रतियां सुरक्षित रखी हैं, मुझे १९८७-८८ से पत्रिका मिलती रही है. सेवानिवृत्ति के बाद घरेलू बजट गड़बड़ाने के कारण कुछ वर्षों से मैं सदस्यता शुल्क नहीं भेज सका. मन में विचार आया कि मुफ़्त में कौन पत्रिका भेजेगा. आज ही २५० रु. का मनीऑर्डर भेजा है. कृपया पत्रिका नियमित भेजते रहें. मैं अपनी आयु की ७५वीं पायदान पर हूं. मुझे ''कथाबिंब'' में प्रस्तुत समस्त सामग्री पढ़कर परम संतोष प्राप्त होता है.

X गजानंद शर्मा, गंजपारा,

रामटाकीज़ मार्ग, महासमुंद (छ.ग.) ४९३४४५

V 'कथाबिंब' का अक्तू-दिसं ०८ अंक मिला. सर्वप्रथम अमरीका प्रवास और ''शब्द-स्टार'' पर साक्षात्कार के लिए आत्मीय बधाई स्वीकारें.

इस अंक की मेरी दृष्टि से, श्री नंदकिशोर नौटियाल से डॉ. पिल्लै की बातचीत महत्वपूर्ण उपलब्धि है. आदरेय नौटियाल जी की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों से भले ही कमतर परिचित हों किंतु पत्रकारिता क्षेत्र में उनके विशिष्ट अवदान से अक्षर अभिव्यक्ति जगत के साक्ष्य-क्षेत्र का आकलन करना अपनी जानकारी को झुठलाने जैसा होगा. अपने प्रत्युत्तरों के जरिए नौटियाल जी ने जिन तथ्यात्मक जानकारियों को उजागर किया है वे उनकी नहीं समसामयिक या कहें शाश्वत स्थितियों पर बेबाक टिप्पणी हैं. ''ब्लिट्ज़'' का मैं नियमित पाठक रहा हूं और कह सकता हूं कि इस साप्ताहिक जैसा अख़बार ही अख़बार होने की परिभाषा और प्रजातंत्र के चौथे-स्तंभ के दायरे में आता है. संपादक करंजिया जी के बारे में ठीक ही कहा गया है कि ''वे सिर्फ़ पत्रकार नहीं थे, वे सामाजिक प्रतिब्धता से युक्त कलमकार थे.'' नौटियाल जी का लंबे अरसे तक उनसे जुड़े रहने का मतलब एक श्रेष्ठ इंसान और निर्भीक व्यक्तित्व से दीक्षा प्राप्त करना है. आज नौटियाल जी जिन कार्यों से जुड़े हैं वे आज की ज़रूरत हैं.

परिशिष्ट में साहित्य के प्रति लगाव और रचना-कर्म के प्रति समर्पित युवकों, बालकों से रचनात्मक परिचय प्राप्त कर अत्यधिक ख़ुशी हुई. इन बाल-युवा प्रतिभाओं में अद्भुत सृजन ऊर्जा है. इन्हें निरंतर प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है. ये कविताएं महज शब्द-बंद नहीं शब्दों की कलात्मक स्तर पर प्रभावी अभिव्यक्ति हैं.

तकरीबन सभी कहानियां पारिवारिक रिश्तों की विभिन्न स्थितियों पर केंद्रित होते हुए भी कुछ नया कहने के अंदाज में मुखर हुई हैं. लंबे अरसे के बाद सुधीर अग्निहोत्री की कहानी पढ़ने को मिली. परिवेश और शिल्प की ताज़गी में कहानी का कथ्य पाठकों को बांधे रखने की क्षमता रखता है. एक सामान्य परिवार की नारी विवशता के घेरे में घिरकर अपने ही लोगों द्वारा दैहिक-शोषण का शिकार होकर अंततः जिस ठौर पर पहुंचती है वह उसकी मानसिकता के अनुकूल ही है. संतोष श्रीवास्तव की ''मृग-मरीचिका'' ने उनकी कलम को नया मोड़ दिया है. वे नारी-अस्मिता की पैरोकार हैं और वही सब इस कहानी में शिद्दत के साथ व्यक्त हुआ है. ''बंटवारा'' स्वार्थजनित मनोवृत्ति पर केंद्रित पठनीय कहानी है. लघु कथाओं में विषय-वस्तु की प्रायः पुनरावृत्ति हो रही है. बदलाव की आहट, वैश्वीकरण-मानसिकता और जीवन मूल्यों में आ रहे परिवर्तन जैसी संक्रमणकालीन स्थितियां प्रायः नदारद होती जा रही हैं. अनुभूत-सत्य या जीवन यथार्थ की अपेक्षा वैचारिक सोच से उपजी सभी लघुकथाएं पढ़ने लायक बन पड़ी हैं. कविताएं, बच्चों की तुलना में सामान्य हैं. सुरेंद्र चतुर्वेदी की ग़ज़लें अवश्य प्रभावित करती हैं.

''बाइस्कोप'' में सविता बजाज तय है दूरबीनी ख़बरों को विस्तृत आकार में हमारे सामने प्रस्तुत करेंगी. आपने इस अंक में इतना कुछ इस रूप में समेटा है कि मन रमा ही नहीं कुछ कहने के लिए मचला भी.

X डॉ. सतीश दुबे,
७६६, सुदामा नगर, इंदौर- ४५२००९

V ''कथाबिंब'' का अक्तू-दिसं. ०८ का अंक प्राप्त हुआ. पत्रिका को इतने करीब से पढ़ने का प्रथम अवसर मिला. मुझे यह कहते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है कि आज के व्यावसायिक युग में भी 'कथाबिंब' ने अपनी साहित्यिक शुचिता को बनाये रखा है जो अपने आप में बहुत बड़ी बात है. पत्रिका पढ़ने के बाद मेरे अंदर भी कहानी लिखने की ललक पैदा हुई और अपने आस-पास के परिवेश से मेरे द्वारा एक कहानी का सृजन हुआ. इसे मैं 'कथाबिंब' का चमत्कार ही मानती हूं. इस अंक में आज के भौतिकवादी युग में अपने ही घर में वृद्धजन किस असहाय स्थिति में पहुंच जाते हैं 'बंटवारा' कहानी में उसका वास्तविक निरूपण कृष्ण सुकुमार जी ने किया है. संतोष जी की 'मृग-मरीचिका' कहानी भी बहुत अच्छी लगी. लघुकथाओं में डॉ. पूरन सिंह की ''जानती हूं तुम्हारा यथार्थ '' स्त्री-पुरुष मनोविज्ञान पर आधारित एक बहुत ही सशक्त कथाकृति है भले ही उसका रूप लघु है.

'कुछ कही-कुछ अनकही' के रूप में संपादकीय में एक संगठित समाज के निर्माण के लिए जिस सोच को विकसित करने का प्रयास किया गया है सराहनीय है.

X जमुर्रद बेगम 'शाद'
६ बी /५३१, आवास विकास कालोनी,
फर्रुख़ाबाद (उ.प्र.)

कहानी

टूटा खिलौना

स्कूल के गेट पर मेरी नजर टिकी हुई है. नन्हें परियों से सजे बच्चे अपने मम्मी-पापा, भाई-बहनों को आते देखते तो दौड़ पड़ते और उनकी बाहों में झूलने लगते. वो उन्हें चूमते, प्यार करते तो मुझे मेरी मम्मी की रह-रह कर याद आती.

मेरे हम उम्र बड़े बच्चे इठलाते-झूमते, हंसते, अपने मम्मी-पापा को स्कूल की टीचर्स और स्टाफ से मिलवा कर फूले नहीं समा रहे हैं और मैं टूटा मन लिये कभी पेड़ की आड़, कभी खंभों की आड़ और कभी दीवारों के पीछे छिप-छिप कर उन्हें देख रही हूं. स्कूल के वार्षिक उत्सव के उत्सवी वातावरण में मैं कच्चा मन लिये बार-बार आंसुओं को पोंछ दृष्टि साफ करने लगती और गेट की ओर एकटक देखने लगती.

कार्यक्रम की तैयारियां पूरी हो चुकी हैं और मैं अपनी बिलखती चीख़ को रोकने का प्रयास कर रही हूं - तभी आंखों की झिल-मिल में मुझे दादा जी आते दीख पड़े और मैं डबडबाई आंखों से मुस्करा दी.

दादा जी ने अपने रूमाल से मेरे आंसू पोंछे. मैंने उनसे पूछा, 'दादा मम्मी जब आयी थी तो उन्होंने एनुअल डे पर आने का प्रॉमिस किया था?'

'अरे बेटा मैं तो हूं - रोती क्यों है! अरे तूने तो अपना मेकअप भी ख़राब कर लिया, चल मैं तेरा मुंह धुलाता हूं. तुझे कार्यक्रम भी तो देना है. ये ले तू ज़िद कर रही थी पापा से वायलन के लिए मैं छिपाकर ले आया....'

मैं जब छोटी थी मां मुझे गाना सिखाती थी. वायलन बजाना भी मैंने उन्हीं से सीखा था. मम्मी के पापा संगीतकार थे और वायलन उन्होंने अपने पापा से ही सीखा था - जब वो पंद्रह की थी, तभी मां-बाप एक दुर्घटना में चले गये थे और मां अकेली रह गयी थी. मम्मी ने गीत तो बहुत से सिखाये थे लेकिन उन्हें न जाने क्यों सबसे अच्छा यही गीत लगता था और आज के कार्यक्रम में मुझे यही गीत गाना है, वायलन के साथ. पहले तो मां वायलन बजा देती थी और मैं गाती थी, आज मैं अकेली हूं.

चलना है दूर, दूर सबका गांव.
नन्हें-नन्हें पांव, नन्हें पांव.
हिम्मत न हारना, हिम्मत संवारना,
छोटे छोटे सपने कल होंगे जवान
चलना है दूर....
नन्हें-नन्हें..... ॥
पल-पल संजोना, बचपन खिलौना,
ज़िंदगी की जीत का है पहला निशान,
चलना है दूर....
नन्हें-नन्हें..... ॥

।। अमर स्नेह ।।

लेकिन मेरा बचपन-खिलौना लगता है हर पल टूटता ही रहा और टूटा-फूटा बचपन मेरी स्मृतियों से कभी ज़ुदा नहीं हुआ. मेरी दादी की मृत्यु मेरी मां के इस घर में आने से पहले ही हो चुकी थी. और मम्मी....? हां मम्मी अब इस घर में नहीं रहती. दादा जी ही स्कूल ले जाते हैं और स्कूल से लाने के बाद बच्चा बन कर मेरे साथ खेलते हैं. कभी-कभी वो कॉलोनी के बच्चों को बहला-फुसला कर ले आते हैं, लेकिन कुछ ही देर में बच्चों के घर से बुलावा आ जाता है और वे चले जाते हैं. दादा जी की आंखें उस वक़्त नम हो जाती हैं और मैं ग़ुस्से में सारे खिलौने उन पर फेंक-फेंक कर दे मारती. खिलौने टूट जाते और फिर मैं दादा के साथ रो पड़ती. दादा जी मुझे अपने वक्ष से लगा कर न जाने क्या-क्या बोलते रहते.

पापा हमेशा देर से ही घर आते. उनके चेहरे पर तनाव और ग़ुस्सा देखकर दादा जी भी बात नहीं करते. हां, कभी जब मैं मम्मी को लाने की बात करती तो वो आग बबूला हो जाते, 'ख़बरदार जो तूने कभी उसका नाम भी लिया..आज उसकी वजह से यह घर बर्बाद हो गया. मेरी फैक्टरी उसी की वजह से बंद हुई...उसी की वजह से मैं कहीं मुंह दिखाने लायक़ नहीं रहा...' - दादा जी उन्हें धीरे से समझाने की कोशिश करते, 'तो बेटा तू इस बच्चे से यह सब क्यों कह रहा है, बच्चा मां के बग़ैर नहीं रह सकता....वो अगर...'

पापा जी और ग़ुस्से में आ जाते, 'मुझे उपदेश नहीं सुनने आपके इसे ले जाओ वर्ना उठाकर पटक दूंगा.' मैं रोती-चीख़ती मां को बुलाती तो दादा जी मुझे टेरेस पर ले जाते. वो मुझे बहलाते, प्यार करते और मां से मिलवाने का वायदा करते. वे कहते, ' तू फिकर न कर मैं तेरी मां को तेरे पास ले कर आऊंगा, वो यहीं रहेगी.' यह सुन कर मैं बहुत ख़ुश होती और बार-बार दादाजी से कहती आप पापा को मना कर देना वो मम्मी को नहीं मारें .... मम्मी पापा के मारने से ही चली गयी थी न....'

यूं तो पापा-मम्मी में अक्सर झगड़ा होता रहता था लेकिन वह घटना मुझे कभी नहीं भूलती जिसके बाद मां घर नहीं लौटी. एक दिन मम्मी कहीं से लौटी, पापा घर आ चुके थे. उन्होंने मम्मी के आते ही उनसे कुछ पूछा और फिर बाल पकड़ कर अंदर के कमरे में ले गये और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे, 'बता वे कौन लोग थे तेरे साथ....कहां जाती है तू...?' दादा जी ने छुड़ाने की कोशिश की तो पापा ने उन्हें ऐसा धक्का दिया कि उनका सर दीवार से जा टकराया. पापा ने दरवाज़ा बंद करके मारना शुरू किया और तब तक मारते रहे जब तक वो बेसुध न हो गयी. पापा ने उनके कपड़े फाड़ दिये. मम्मी के सिर से ख़ून निकलता रहा. मैं खिड़की से चीख़ती रही, 'पापा, मम्मी को मत मारो- मत मारो....' कुछ देर बाद पापा यह कह कर घर से निकल गये कि 'इसे मैं दोबारा इस घर में न देखूं.' दादा जी बड़ी मुश्किल से मां को होश में लाये, उनकी पट्टी की - वो पूरी रात कराहते हुए मुझे अपने सीने से चिपकाये रही.

सुबह जब मैं उठी तो मां मेरे पास नहीं थी वह चली गयी थी. जाते हुए उन्होंने अपनी सबसे प्रिय चीज़, वायलन मेरे पास रख दी थी. इसके अलावा शायद उनके पास कुछ भी नहीं था.

मां को गये काफ़ी समय बीत गया था. मेरा पढ़ने में मन नहीं लगता था - हमेशा मां के बारे में सोचती रहती - लेकिन दादाजी मुझे बहला-फुसला कर किसी तरह पढ़ा लेते. दादा जी का मम्मी को घर लाने का आश्वासन मुझे राहत देता. एक दिन दादा जी ने मां को ढूंढ़ लिया और वे मुझे मम्मी से मिलाने कहीं शहर से दूर ले गये. मां मुझे अपनी छाती से लगाकर रोती रही. मां में से जानी पहचानी सुगंध आ रही थी और मैं उसकी छाती से लग कर सो गयी. मेरी आंख तब खुली जब दादा जी चलने के लिए तैयार हो गये. दादा के घर आने के आग्रह पर मां ने आंसू पोछते हुए कहा था, 'पिता जी समाज और दुनिया की मर्जी पूरी हो गयी, उसने हमें अलग करके ही दम लिया - मेरी बेटी पढ़ लिख जाये - बस यही देखने के लिए

अमर स्नेह

लेखन : लगभग तीस वर्षों से देश की स्तरीय पत्र पत्रिकाओं में कहानी, लेख एवं व्यंग लेखन. आकाशवाणी और दूरदर्शन के लिए, नाटक, फ़ीचर और टेलीफ़िल्मों का लेखन. रंगमंच के लिए पैंतीस एकांकी एवं पूर्ण अवधि के नाटक. कुछ नाटकों एवं कहानियों का कन्नड़, मराठी एवं अंग्रेजी में अनुवाद.

विशेष : लगभग पैंतीस वर्षों से रंगमंच, फ़िल्म, टेलीविजन और रेडियो पर लेखक, अभिनेता एवं निर्देशक के रूप में सक्रिय. मुंबई की प्रयोगधर्मी नाट्य संस्था थियेटर लैब के निर्देशक एवं संस्थापक. हबीब तन्वीर के साथ ''नया थियेटर'' में बरसों कार्य. उत्तर प्रदेश के फ़िल्म एवं नाटक विभाग, भारत सरकार के गीत एवं नाटक विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के दूरदर्शन और एशिया टेलीविजन नेट वर्क, मुंबई में वरिष्ठ निर्देशक के रूप में कार्य. इस बीच विदेशों में फ़िल्म का निर्देशन. सोलह देशों के कलाकारों को लेकर बनी फ़ीचर फिल्म 'द सोमालिका दरविशका' पांच विदेशी भाषाओं में बनी यह फ़िल्म अब तक की सबसे बड़ी उपलब्धि. फ़िल्म मेकिंग और अभिनय के शिक्षक के रूप में ख्याति.

संप्रति : रंगाश्रम पैरेलल फ़िल्म्स एवं टेलेन्ट फाउन्डेशन के निदेशक

ज़िंदा हूं .' मुझे प्यार करते हुए उन्होंने कहा, 'खूब पढ़ना, पापा को तंग मत करना.' मैं मां को कस कर जकड़े हुए थी और चीख़-चीख़ कर दोहरा रही थी, 'मैं मम्मी के पास ही रहूंगी' - मां मुझे दुलारती रही. मेरे शब्द अब सिसकियों में तब्दील हो गये थे, मां की दर्द भरी आवाज़ सुनकर मेरी सिसकियां बंद हो गयीं, 'मेरी बेटी मैंने इसी चीख़ और तड़प को ज़िंदा रखने के लिए ख़ामोशी

अख़्तियार कर ली है, वर्ना यह मौत में बदल जाती....और मैंने जीना भी सिर्फ इसलिए चाहा कि तुम पढ़ लिखकर वह ताक़त हासिल कर लो जो यह बता सके कि जीने का अर्थ सिर्फ जीना ही नहीं होता. जीने के लिए उस सम्मान और गरिमा की भी ज़रूरत होती है जिसे यह हमारा समाज नोच लेता है....मैं चाहती हूं तेरी पहचान को इस दोग़ले समाज का वह स्टैंप न लगे जिसने मुझे ज़िंदा लाश में बदल देने की कोई कसर नहीं छोड़ी....तू वहां अपने पापा के पास पढ़-लिख कर वह ताक़त हासिल करना जो भ्रष्ट समाज के उस प्रमाणपत्र को ख़ारिज कर दे जो उसने मुझे दिया है... मैं जानती हूं मैंने तुझे इस लड़ाई को लड़ने के लिए अकेला छोड़ दिया है लेकिन तेरी मुश्किलें ही तेरी ताक़त बनेंगी एक दिन.....मैं जानती हूं कि मैंने अपने और तेरे लिए बहुत मुश्किल का रास्ता चुना है...जा मेरी बच्ची जा....वर्ना मेरी हिम्मत टूट जायेगी.'

मैं उस वक़्त कुछ ज़्यादा नहीं समझ पायी थी लेकिन मेरे मन में मां की पीड़ा अवश्य अंकित हो गयी थी. उनसे विदा लेते समय मैं एकदम सुन्न हो गयी थी. - दादा ने मां के सर पर हाथ रखकर कहा, 'बेटी तुम मेरी बेटी पहले हो बाद में बहू हो - मैं तुम्हारी पीड़ा समझ रहा हूं....ईश्वर तुम्हें ताक़त दे....' मैं बार-बार मुड़कर देखती रही काफी देर तक, मुझे लग रहा था जैसे मां पत्थर की बन गयी है.

दादा जी मुझे ख़ूब पढ़ाते, योगा सिखाते. शाम को टेनिस भी मेरे साथ खेलते. अबकी मैं अच्छे नंबरों से पास हो गयी थी, सिर्फ दो नंबरों से मेरी फ़र्स्ट पोजीशन रह गयी थी. दादा-पापा बहुत ख़ुश थे मेरा रिज़ल्ट देखकर. दादा जी ने मेरी सफलता का डंका पीट दिया. बगलवाली आंटी ने भी रिजल्ट देखने के लिए मुझे बुलाया. उन्होंने पूछा क्या तेरी मम्मी को भी पता है कि तू पास हो गयी है. मैंने उन्हें बता दिया कि दादा जी मुझे मम्मी के पास लेकर जायेंगे. मैंने मां से मिलने की बात भी उन्हें बता दी थी. दूसरे दिन पापा के पास ये सब बातें पहुंच गयीं. दादा और पापा में बहुत झगड़ा हुआ. दादाजी अब मां से मिलवाने में डरने लगे, लेकिन इसी बीच मैं बहुत सख़्त बीमार हो गयी. पापा जी दो दिनों के लिए बाहर गये हुए थे. दादा जी ने फ़ोन करके मां को बुला लिया. मां आयी और वह कुछ ही देर रुकी और चली गयी. ये बात भी, मोहल्ले वालों ने, जब पापा लौट कर आये तो उन्हें बता दी. पापा ने मम्मी के आने की बात मुझसे पूछी तो मैंने अबोध मन से सब बता दिया.... मां आयी थी उसने मुझे बहुत प्यार किया, अपने हाथ से दवा दी और मैं ठीक हो गयी. वह मेरे लिए बहुत सी चीज़ें लायी थी. दादा जी ने संभाल कर अपने बक्से में रख दी हैं. पापा, मम्मी कह रही थीं, बर्थ डे पर बहुत से प्रेजेन्ट्स देंगी... कुछ देर तो पापा शांत रहे और फिर दादा जी और पापा में झगड़ा शुरू हो गया. दादा ने खाना छोड़कर अपनी अटैची ठीक की और घर से निकल गये. लेकिन वो दूसरे दिन ही लौट आये. वे मुझे वक्ष से लिपटा कर रो पड़े. मैं यह सोच कर वापस आ गया कि तुझे कौन देखेगा - तूने मेरे पांव में बेड़ियां डाल दी हैं. मैं इस घर में रह भी नहीं सकता और जा भी नहीं सकता....'

उसी रात दादा जी के साथ पापा की फिर कहा-सुनी हो गयी. पापा ने दादाजी को बहुत बुरा भला कहा.... 'मुझे सब पता लग गया है कि तुम उस गंदी औरत के नाम जायदाद लिखने जा रहे हो - ये सब तुम क्यों कर रहे हो. अब पूरी दुनिया को पता चल गया है. वो इस बड़ी जायदाद को हड़पने के लिए कुछ भी कर सकती है.... बच्ची का तो सिर्फ बहाना है.... मुझे शर्म आती है तुम्हें अपना बाप कहते हुए'.... दादा जी ने पापा को ग़ुस्से में थप्पड़ मार दिया और फिर पापा भी हाथापाई पर उतारू हो गये.

दूसरी सुबह मैं पापा के साथ अकेली रह गयी थी. दादा जी मेरे उठने से पहले ही चले गये थे. वे कहां गये कुछ मालूम नहीं.

अब मैं सहमी और डरी रहने लगी. मन में तरह-तरह के ख़्याल आते और मैं रात भर उठ-उठ कर पापा को देखती रहती, कहीं पापा भी तो नहीं चले गये. कभी-कभी सोते में मेरी चीख़ निकल जाती तो पापा जाग जाते. मुझसे पूछते, 'क्या हुआ?'- मैं उन्हें दिन भर की बातें बताने बैठ जाती. सामने वाली आंटी कह रही थी कि शहर में कहीं एक औरत की लाश मिली है- कह रही थी उन्होंने समझा कहीं तेरी मम्मी ने आत्महत्या तो नहीं कर ली .... वो बता रही थी कि टी.वी. पर आया था कि उसकी पहचान नहीं हो पायी है. वो डांटते हुए सुला देते, ... मर जाने दे उसे.... अब पापा ने स्कूल लाने ले जाने के लिए बस लगा दी थी. लेकिन दोपहर में आने के बाद मुझे बाहर ही बैठे रहना पड़ता. पापा के इंतज़ार में और इस बीच मोहल्ले के लोग मुझसे तरह-तरह की बातें करते. मां और दादा के बारे में उल्टी-सीधी बातें पूछते. पापा के आते ही लोग इधर-उधर हो जाते. पापा होटल से खाना लेकर आते थे, वो कुछ देर रुकते और मुझे खाना खिला कर चले जाते और बीच में कभी-कभी फ़ोन करके पूछते रहते.

मेरा पूरा दिन खिड़की पर खड़े या टी.वी. देखते बीतता. पढ़ने की कोशिश करती लेकिन मन नहीं लगता. कभी खिड़की से कोई आंटी पूछती, रश्मि क्या कर रही हो?- वह सहानुभूति जतातीं ... बताओ फूल सी बच्ची को पहले मां छोड़ के चली गयी

फिर दादा भी.... तभी कोई और आ जाती और वे आपस में बातें करने लगतीं. अरे ये भी मां की तरह निकलेगी, इसकी मां की शादी थोड़े ही हुई थी, वैसे भाग के आ गयी थी .... बड़ी होकर यह भी... अजी बड़े हों चाहे पैसेवाले, घर के संस्कार तो बच्चों पर पड़ते ही हैं....! जाने दो- जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा....!

कभी-कभी मैं अकेलेपन से तंग आ जाती तो खिड़की से बच्चों को बुलाती, बच्चे आ भी जाते लेकिन कुछ ही देर में वे शैतानी करने लगते. चिढ़ाने लगते, 'एक दिन तुझे अकेले घर में भूत खा जायेगा. .... जेल में बंद, खा ले कलाकंद....' कह कर ढेरों मिट्टी पत्थर खिड़की से अंदर फेंकने लगते. एक दिन तो एक बच्चे ने खिड़की से पत्थर फेंक कर बड़ा शीशा तोड़ दिया. उस दिन शाम को पापा का मोहल्ले वालों से बहुत झगड़ा हुआ. बच्चों को बुलाने के लिए पापा ने मुझे बहुत मारा.

पापा ने मेरी देखभाल के लिए एक आया रख दी जो पापा के आने तक घर में रहती थी लेकिन कुछ ही समय में बग़लवाली आंटी उसे अपने पास बुलाने लगी थी. काफ़ी देर तक वो वहीं रहती. जब लौट कर आती तो काम से ज़्यादा वो मुझसे पूछ-ताछ करने लगती. कभी-कभी मम्मी और दादा जी के विषय में उलटा-सीधा कहने लगती. वह महीना होते-होते यह कह कर चली गयी कि ऐसे घर में मुझे काम नहीं करना है. एक और आया आयी तो वो धीरे-धीरे घर का सामान ही अपने घर ले जाने लगी. वह एक लड़के को साथ लेकर आती थी और उसे घर का सामान चुपके से पकड़ा देती थी. पापा ने अंत में उसे निकाल दिया और मैं फिर से अकेली हो गयी. पापा की फैक्टरी झगड़ों की वजह से बंद हो गयी थी और पापा ने नौकरी कर ली थी. शुरू में पापा दो-चार बार मुझे स्कूल से अपने ऑफिस ले गये लेकिन वहां लोग पापा से नजर बचाकर पूछाताछी करने लगे तो पापा ने ले जाना बंद कर दिया. बाहर वे मुझे इसलिए भी नहीं छोड़ते कि कहीं मां मुझे ले ना जाये. वैसे भी उनका फील्ड का काम था. मुझे घर में क़ैद करके रखना एक तरह से पापा की मजबूरी थी.

स्कूल से आने के बाद मैं घर में रेंगती रहती. भय और डर मेरे अंदर घर कर गया था- मैं एक कमरे से दूसरे में भागती और छिपती रहती. कभी कोई काम करने लगती तो कोई न कोई घटना हो जाती. ऊपर से सामान उतारने लगती तो कुर्सी-स्टूल से गिर जाती, चोट लगती. कभी छुरी से हाथ काट बैठती, प्रेस करने लगती तो कपड़े जल जाते. टेरेस पर जाती तो आस-पास के लड़के फांद कर हमारी टेरेस पर आ जाते और बदतमीज़ी करने लगते. मैं ख़ुद को बचाने के लिए भागती तो सीढ़ियों से गिर जाती और टेरेस का दरवाज़ा बंद करके घर में क़ैद हो जाती. एक दिन एक बड़ी दुर्घटना होते होते बची... मुझे तेज़ भूख लगी तो मैं खाना बनाने का प्रयास करने लगी. गर्म कढ़ाई में तेल डालते ही आग लग गयी और घबराहट में तेल का डिब्बा उसी में छूट गया. बाहर से तो ताला लगा हुआ था. मैं चीख़ती चिल्लाती टेरेस पर भागी. धुआं देखकर लोग इकट्ठा हो गये. बग़ल में काम करते एक मजदूर ने आ कर आग बुझायी. फ़ोन करके पापा को बुलाया गया. लोगों ने पापा को बहुत बुरा भला कहा. लोगों के जाने के बाद मेरी शामत आ गयी. उन्होंने मेरी जमकर पिटाई की. मैं रोते-रोते मां और दादा जी को पुकारती रही.

मेरी वजह से लोगों के सामने पापा को शर्मिंदा होना पड़ा इसके लिए मैं कई दिनों तक सुन्न रही. क्लास में टीचर्स पढ़ाती रहतीं और मैं कहीं और ही खोयी रहती. न जाने क्या-क्या ख़्याल आते. कभी सोचती कि क्या मां ने आत्महत्या कर ली है जो इतने दिनों से नहीं आयी. दादा जी कहां चले गये? क्या अब वे कभी नहीं आयेंगे? मैं स्कूल से लौट कर टी.वी. देखने लगती शायद कहीं समाचारों में मां का आत्महत्या करने का समाचार हो! आज टी.वी. पर एक हत्या का समाचार सुनकर मैं बहुत डर गयी. मेरी हम उम्र एक लड़की का उसके पापा ने सोते में क़त्ल कर दिया था. मैं सोचने लगी कहीं पापा भी ग़ुस्से में मुझे मार तो न देंगे? मैं अब रात-रात भर सो नहीं पाती और दिन में स्कूल के दौरान ऊंघती रहती या सोचती रहती.

अब अक्सर टीचर्स मुझे प्रश्नों का उत्तर न दे पाने या होमवर्क न करने के लिए क्लास से बाहर निकाल देतीं और मुझ पर अफ़सोस भी करतीं कि इसे क्या हो गया है. बच्चे मुझे टीज़ करते, मेरा मज़ाक उड़ाते और मैं प्रतिक्रिया करती तो सज़ा भी मुझे ही मिलती. एक टीचर ने प्रश्नों का उत्तर न दे पाने के लिए मुझे क्लास की पीछे की दीवार की तरफ मुंह करके खड़ा रहने की सज़ा दी. बच्चे पीछे मुड़-मुड़ कर मेरी खिल्ली उड़ाते रहे और मैं सुन्न सी खड़ी रही. क्लास के ख़त्म होने का भी मुझे होश न रहा और तभी एक शैतान लड़के ने लकड़ी का डस्टर फेंक कर मुझ पर मारा और वो मेरे सर पर ऐसा लगा कि मैं गिर गयी. लड़के से जब पूछा गया कि उसने ऐसा क्यों किया तो उसने कहा, 'शी डिज़र्व्स दिस, हर मदर इज़ ए बैड वूमॅन, शी शुड बी सैक्ड फ्राम दा स्कूल. माई फादर विल टाक टू स्कूल एथार्टीज....' (इसके साथ ऐसा ही व्यवहार होना चाहिए, इसकी मां एक ख़राब औरत है. इसे स्कूल से निकाल देना

चाहिए. मेरे पिता इस सिलसिले में स्कूल के अधिकारियों से बात करेंगे). उसे ऐसे वक्तव्य और इस तरह के व्यवहार के लिए डांटा भी गया और सज़ा भी दी गयी. लेकिन कुछ ही दिनों बाद स्कूल से पापा को एक पत्र आया कि आपकी बेटी का व्यवहार विलक्षण है वो मानसिक रूप से दुर्बल है. आप इसका इलाज करवायें. फिलहाल हम इसे स्कूल में रखने में असमर्थ हैं. बहुत कहने सुनने के बाद मुझे स्कूल से आठवीं की परीक्षा देने की अनुमति मिल गयी. लेकिन स्कूल से निकाल दिया गया. अब मुझमें पहले से ज़्यादा हीन भावना पलने लगी थी. मुझे हर एक मुंह बिराता नजर आता और मुझे खुद का चेहरा टेढ़ा लगने लगा.

मुझे लेकर अब पापा और परेशान नज़र आने लगे. उनकी परेशानी थोड़ी कम हुई जब पास की कॉलोनी की एक महिला टीचर ने ट्यूशन पढ़ाने की रज़ामंदी दे दी. अब मैं दोपहर से शाम तक उन्हीं के यहां रहती, दोपहर का खाना भी उनके यहां ही खाने की व्यवस्था हो गयी थी. मुझे पढ़ाती ज़रूर थीं लेकिन धीरे-धीरे वे मुझसे घर का काम भी करवाने लगीं. घर के बारे में जब वे खोद-खोद कर बातें करतीं तो मुझे अच्छा नहीं लगता.

एक दिन मां मुझे ढूंढ़ते-ढूंढ़ते यहां पहुंच गयी. मैं उस वक़्त बाहर की तरफ दालान में बर्तन साफ़ कर रही थी. उन्होंने मुझे देख लिया था और वे बिना किसी औपचारिकता के गेट खोलकर आयी और मुझसे लिपट गयी. उन्होंने मुझे हृदय में समा लेने तक की शिद्दत से चिपटाये रखा. उनके आंसू टप-टप मेरे चेहरे पर गिरने लगे. इसी वक़्त अंदर से मैडम निकल कर आ गयी और मां को अपने पास बुलाकर कहने लगी, 'देखिए मैं आपकी भावनाओं की कद्र करती हूं- मैं भी मां हूं और मां का दर्द समझती हूं. रश्मि के पापा ने मुझे बता दिया था कि आप लोगों के कोर्ट केस चल रहे हैं. देखिए हम झगड़ों में पड़ना नहीं चाहते...' मां ने उनसे बताया कि आज ही उन्होंने कोर्ट के सारे केस वापिस ले लिये हैं.

उन्होंने मां की लायी कोई भी चीज़ मुझे नहीं लेने दी और कहा कि अब वे यहां न आयें. उन्होंने मां से तुरंत चले जाने को कहा. मां ने ख़ुद को संभालते हुए कहा कि वो अब कभी नहीं आयेगी. मैं पढ़ती रहूं बस वे यही चाहती हैं. यह कहते हुए वो गेट से निकल गयी. जाते हुए उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा तो मैं ख़ुद को रोक नहीं सकी. जुदा होती मां से जाकर लिपट गयी. मां मुझे भी साथ ले चलो... मां घुटी-घुटी आवाज़ में बिलख पड़ी, 'मेरी बच्ची मैं कभी भी तुझसे अलग नहीं होना चाहती. लेकिन मेरी मजबूरी है- तू पापा के पास रह कर पढ़ लिख जायेगी..' मैं बहुत रोयी, चीख़ीं, चिल्लायी. 'मुझे ले चलो...' मां ने शांत स्वर में कहा, 'मैं हर क्षण तेरे पास हूं- अगर मैं टूट गयी तो सब ख़त्म हो जायेगा... सब बिखर जायेगा. मां का प्यार पाना तेरा अधिकार है, लेकिन मां की सही तस्वीर तुझे तभी नज़र आयेगी जब तू पढ़ लिख जायेगी. यह हम सब के लिए नाज़ुक दौर है, धैर्य रख, पापा को परेशान मत करना....'

मां बहुत कुछ कहना चाहती थी लेकिन उस पर विराम लग गया. अर्चना मैडम आयी और उन्होंने मुझे पकड़कर घसीट लिया. 'मैं तेरे पापा को तुझे सौंप दूं तो फिर कुछ भी करना. हमारी भी कोई ज़िम्मेदारी है, कुछ ऊंच-नीच हो गया तो पुलिस, कोर्ट, कचहरी में घसिटते फिरेंगे, आप जाइए.. मैं इसके पापा को फ़ोन करती हूं....'

मां चली गयी और मैं उसे दूर तक देखती रही. इस बार उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा था.

मां ने आत्महत्या नहीं की, वो जीवित है. मेरे लिए इससे बड़ी ख़ुशी की बात और क्या हो सकती थी. उसका मुझे मिलना, मुझे हृदय से लगाये रखना, प्यार करना. प्यार में उमड़ते टप-टप आंसुओं का मेरे चेहरे पर गिरना, मेरे एहसासों में अब एक ख़ुशनुमां हलचल का सबब बन रहा है. आज मैंने पापा से कह दिया कि अर्चना मैडम नहीं पढ़ाती तो आप परेशान न हों. अच्छा ही हुआ. वे मुझसे घर का काम करवाती थीं. मुझसे बर्तन मंजवाती थीं. खड़े होकर खाना बनवाती थीं. झाड़ू लगवाती थीं, कपड़े तक धुलवाती थीं... ये सुनकर पापा की त्योरियां तन गयीं. 'क्या! तूने ये सब मुझे क्यों नहीं बताया...? मैं अभी उन्हें फ़ोन करता हूं- पूछता हूं...'

'कोई बात नहीं पापा .... जाने दो, उनके काम करवाने से मुझे वो सब काम करना आ गया ना... आप परेशान न हों पापा ... मैं अपने आप ही पढ़ लूंगी और पास होकर दिखाऊंगी. सच पापा.... आप परेशान न हों....'

पापा आश्चर्य चकित काफ़ी देर तक मुझे देखते रहे. उन्होंने मुझे हृदय से लगा लिया. मुझे लगा जैसे वो मेरी मां हैं. उनकी आंखें नम हुईं और फिर उनकी आंखों से हृदय पिघलने लगा.... 'मां बाप के सिर्फ दुलार से ही खिलखिला जानेवाला वो तितली सा नाज़ुक नन्हा बचपन, वो बचपन जो मिट्टी के घरौंदे में ही सब कुछ पा जाता है उसे हमने अपने स्पर्श और चुंबन के लिए तरसा दिया.... इंसान की ज़िंदगी का सबसे क़ीमती और सुंदर गहना, बचपन का भोलापन, जिसे हमने और दुनिया ने तुझसे छीन लिया और मेरी बच्ची.... तू कहती है- पापा परेशान न होना मैं ख़ुद ही पढ़

लूंगी... टूटे खिलौने से ही बहलना सीख लिया तूने... ओफ! कैसा अकेलापन हमने रच दिया तुझमें... मेरी गुड़िया, मेरी बेटी हमें माफ़ कर दे.'

मैंने पापा के आंसू पोंछे तो पापा के चेहरे पर मुस्कराहट उग कर खिल गयी. कुछ देर बाद वो इधर-उधर कुछ तलाशने लगे. आलमारी पर न जाने कबसे मां का वायलन पड़ा था जिससे पापा को बहुत नफ़रत हो गयी थी. आज उन्होंने उसे उतारा, साफ किया और प्यार से मुझे दे दिया.

शाम हो रही थी. दूर-दूर से पंछी अपने नीड़ों पर लौट रहे थे और वायलन की स्वर लहरी... चलना है दूर सबका गांव... में मैं खोयी हुई थी.

▯ स्नेह फिल्म इंस्टीटयूट एंड राप फ़िल्म्स कंबाइन.
कला निकेतन, गोहर, मंडी- १७५०२९ (हि.प्र.)
मो. ९३२८६०४९९९

लघुकथा

भीड़-तंत्र

▯ विजय शंकर विकुज

वर्षों की तपस्या-साधना के पश्चात एक महात्मा का क्या मन हुआ कि उन्होंने पहाड़ की अंधेरी गुफा से बाहर आकर मैदान में कुछ दिन बिताने का विचार किया. वे गुफा से बाहर आये. कई पहाड़ों तथा जंगलों से गुज़रकर एक शहर में पहुंचे. उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जब वे जंगल में गये थे तो दुनिया कुछ और थी, आज कुछ और है. आदमी का रहन-सहन और व्यवहार काफ़ी बदल गया है. कुछ लोग मजे से ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं तो अधिकतर लोग बद से बदतर ज़िंदगी जी रहे हैं.

समाज और मनुष्य की इस स्थिति को देखकर महात्मा के मन में यह विचार आया कि उन्हें लोगों को जीवन का ज्ञान देना होगा, असहाय लोगों की सहायता करनी होगी. दुनिया का कल्याण करना होगा.

रास्ते में आगे बढ़ते हुए महात्मा ने देखा, एक कृषकाय अपाहिज व्यक्ति घिसट-घिसटकर भीख मांग रहा है. उसकी दयनीय दशा को देखकर महात्मा ने सोचा, वे अपने तपोबल से उसकी लाचारी दूर कर दें. वे उस भिखारी के पास गये. ईश्वर को स्मरण कर उसके सिर पर अपना हाथ फेरा और फिर उसका हाथ पकड़कर उससे कहा,''उठ, खड़ा हो जा.''

उनके स्पर्श से रोमांचित होकर वह भिखारी ऐसे उठ खड़ा हुआ जैसे उसे कोई तकलीफ़ ही नहीं थी. बीच बाजार में यह घटना घटी थी. बहुत से लोगों ने यह सब कुछ देखा. भीड़ लग गयी.

भीड़ में किसी ने कहा,''यह अपाहिज भिखारी तो शहर में दो-तीन महीने से भीख मांगता नज़र आ रहा था. पता नहीं कहां से आया है?''

किसी और ने कहा,''साधु बाबा पहली बार शहर में दिखाई पड़े हैं. चमत्कारी हैं. देखा, अपाहिज भिखारी को छूकर पलभर में ठीक कर दिया.''

तीसरे ने अपना तर्क पेश किया,''लगता है बात कुछ और ही है. आजकल के साधु-महात्माओं का कोई विश्वास नहीं.''

चौथे ने अपना सुर मिलाया,''भिखारी नाटक करके भीख मांग रहा था. अब अपने एक साथी को बुलाकर नया नाटक शुरू करनेवाला है. चमत्कार दिखा कर दोनों लोगों को फंसायेंगे और ठगेंगे. क्या पता ये चोर-डाकू हों?''

''क्या किया जाये?'' एक साथ कई लोगों का सवाल.

''अरे, ऐसे ढोंगियों को छोड़ना ठीक नहीं. दोनों की अच्छी तरह धुनाई की जाये,'' कई लोगों का एक ही जवाब.

और वे कई लोग आक्रामक भीड़ में बदल गये. भीड़ ने महात्मा और भिखारी को घेरकर पीटना शुरू किया. उन्हें मारते-पीटते बेदम कर डाला और सड़क पर कराहता छोड़कर भीड़ हंसते हुए चलती बनी. भीड़ छंटने पर वहां दो असहाय शरीर बेजान पड़े थे.

▯ २६-सी, क्रीक रो, कोलकाता-७०००१४

कहानी

मकड़ जाल

आधी रात बीत गयी लेकिन अभिषेक की आंखों से नींद कोसों दूर जा चुकी थी. करवट बदलकर पलकें बंद करने की कोशिश करता भी तो अनचाही आशंकाओं की चंचल बिजली उसके हृदयाकाश में चमक उठती. भाऊ साहब के शब्द बार-बार उसके कानों में ज़हर घोल रहे थे- ''मेरी बात याद रखना इन्सपेक्टर! चुनाव एक युद्ध है और प्रत्येक युद्ध का एक ही लक्ष्य होता है विजय. यदि आपने हमारी विजय में साथ नहीं दिया तो इसका अंजाम आपके लिए अच्छा नहीं होगा. मंत्री जी के कोप से भी आपको कोई नहीं बचा पायेगा. इसलिए कल जब आप सोसायटी के दफ़्तर में जाकर नामांकन पत्रों की जांच करें तो आपको वे ग्यारह फॉर्म ही पास करना है जो पंडित जी ने जमा किये हैं, इसी में आपकी भलाई है और ऐसा नहीं किया तो फिर दुष्परिणाम भोगने को तैयार रहना.''

भाऊ साहब का एक-एक शब्द उसकी छाती में नश्तर की भांति चुभ रहा था. उसका मन चाह रहा था कि वह भाऊ साहब की गर्दन दबोचकर उनकी थूथनी को ज़मीन पर उस समय तक रगड़ता रहे जब तक कि वह यह क़बूल न कर लें कि- ''चुनावी युद्ध में केवल न्यायसंगत नीतियों से ही विजय पाना श्रेयस्कर होता है.'' लेकिन वह ख़ून का घूंट पी कर रह गया. जबसे सरकारी नौकरी में आया है तबसे उसकी संपूर्ण मानसिकता में नपुंसकता का बोध भर गया है. उसे अनुभव होने लगा कि वह उस नौकरीगत संस्कृति के अधीन हो गया है जहां संपूर्ण संचेतना जड़ हो जाती है. यहां केवल छटपटाना है, तिलमिलाना है एवं दमघोटू मानसिक पर्यावरण में आक़ाओं की अभिलाषा के अनुरूप जीना है. समस्त नीतियों की आहुति देकर पनपनेवाली राजनीति के नित नये तमाशों ने नौकरीगत संस्कृति में पलनेवालों की मानसिकता को जकड़ रखा है तभी तो भाऊ साहब के शब्दों को सुनकर उसका स्वाभिमान झनझना उठा, वह तिलमिलाया भी लेकिन नपुंसकत्व मानसिकता में केवल उत्तेजित होकर ही रह गया.

भाऊ साहब से उसका सीधा परिचय उस समय ही हुआ जब उसे हीरागढ़ सहकारी समिति का चुनाव अधिकारी नियुक्त किया गया. इससे पहले उसने भाऊ साहब के बारे में मात्र सुना ही था. कॉलेज के जमाने से ही गुंडागर्दी के लिए कुख्यात भाऊ साहब की स्थानीय राजनीति में बहुत गहरी पैठ है. विशेषकर सहकारी जगत का पत्ता भी उनकी इच्छा के बग़ैर नहीं हिलता है.सारी नीतियां उनके आलीशान बंगले में बनती हैं और सहकारिता की धमनियों में जम जाती हैं. सरकारी दफ़्तरों में उनकी तूती बोलती है. अपनी बात मनवाने के उनके पास अनेक तरीक़े हैं.चुनाव में अपने राजनैतिक दल का सहकारी समितियों पर क़ब्ज़ा बनाये रखने का दायित्व पार्टी ने उनको सौंप रखा है. इसके लिए वह हर प्रकार के हथकंडे अपना रहे थे. यही नहीं समूचे विभागीय अफ़सर भी उनकी कठपुतली बनकर उनके इशारों पर नाच रहे थे. जब अभिषेक ने कठपुतली बनने से इंकार कर दिया तो भाऊ सा तिलमिला उठे. एक अदना सा इन्सपेक्टर उनके वजूद को नकार रहा था, जो उन्हें क़तई मंजूर नहीं था.

।। कैलाशचंद्र जायसवाल।।

भाऊ साहब की धमकियां अभिषेक की चिंता का कारण थीं. सीधी सरल रेखा पर चलनेवाले अभिषेक के समक्ष राजनैतिक चक्रव्यूह के जाल को तोड़ने की चुनौती आ गयी. भाऊ साहब हीरागढ़ में निर्विरोध चुनाव चाहते थे और विरोधियों के नामांकन पत्र रद्द कराने का दबाव डाल रहे थे. यदि अभिषेक भाऊ साहब की बात नहीं मानता तो वे शांत नहीं बैठेंगे. और कुछ न कुछ उत्पात ज़रूर मचायेंगे. वह यह भी जानता है कि इस समय उसकी सहायता कोई नहीं करेगा. भाऊ साहब से बैर लेना कौन पसंद करेगा? तो क्या वह हीरागढ़ जाने से पहले भाऊ साहब के बंगले पर जाकर आत्मसमर्पण कर दे? नहीं. ऐसा नहीं होगा. यह उसकी कर्तव्य परायणता के अस्तित्व का प्रश्न है. उत्तेजना में वह उठकर बैठ गया. ठंड के मौसम में भी उसका समूचा बदन पसीने से भीग रहा था. कमरे में मध्यम रोशनी फैल रही थी. पास वाले पलंग पर नेहा सो रही थी. एक निश्चिंत, सुखद एवं सुकून भरी नींद, स्वाति और पीयूष दोनों नेहा के पास दुबके सोये हैं. मासूम बच्चों के प्रति उसकी ममता उमड़ पड़ी. कितना सुखमय है उसका पारिवारिक जीवन. संपूर्ण समर्पण भाव से दिल की गहराइयों तक चाहने वाली पत्नी जो उसके रोम-रोम में समायी हुई है. फूल से प्यारे नन्हें दो बच्चे. अगर उसे कुछ हो जाये तो सुख की यह बगिया पल भर में

उजड़ जायेगी. एक ओर भाऊ साहब का आतंक एवं नौकरीगत दायित्व तो दूसरी ओर उसका अपना व्यक्तिगत जीवन का सुख-चैन, सोच की बदलती दिशाओं के बीच उसकी झपकी लग गयी.

पौ फटने से पहले गांव के जीवन की दिनचर्या में मुर्ग़े की बांग का जो स्थान है वही शहरी दिनचर्या में नल की शूं-शूं का है. रोज़ नल की शूं-शूं को सुनकर नेहा उठ जाती है और पानी भरने के संघर्ष में जूझ जाती है. प्रायः अभिषेक भी साथ ही जग जाता और सुबह कुछ पढ़ने-लिखने में लग जाता. लेकिन पिछले तीन चार दिनों से अभिषेक की दिनचर्या अस्त-व्यस्त हो गयी है. आज भी जब देर तक वह सोता रहा तो नेहा ने उसे जगाया. अभिषेक को बुख़ार जैसी तपन एवं हरारत महसूस हो रही थी.

''आज आपकी तबीयत कुछ ठीक नहीं लग रही है. घर पर ही आराम कीजिए.'' नेहा ने स्नेहसिक्त हाथों से अभिषेक का सिर सहलाते हुए कहा.

''आराम, वह भी आज? आज तो मुझे गांव जाना है. मैं ठीक हूं. चिंता मत करो. तुमने पानी भर लिया.''

''पानी भरना तो अच्छी ख़ासी मुसीबत है. आजकल अपना नंबर आते-आते नल बंद होने का समय हो जाता है. एक दो बाल्टी पानी भी नहीं मिल पाता.'' नेहा ने कंबल उठाते हुए कहा.

यह मकान मालिक भी इतना लालची है कि बस पूछो मत. छः सात किरायेदारों के बीच एक नल? कब तक दम मारेगा. कितनी बार कह चुका हूं कि ऊपरवालों के लिए अलग नल लगवा दो, परंतु उसके कानों में जूं तक नही रेंगती. इन्हें तो किराया चाहिए. अरे मकान मालिक ही क्या सारा ज़माना ही ख़ुदगर्ज़ है. सब अपना-अपना स्वार्थ देखते हैं. दूसरों की चिंता है ही किसे?'' बात पूरी करते-करते अनायास ही वह उत्तेजित हो गया. नेहा ने बात का रुख़ पलटते हुए कहा- ''छोड़िए भी आप क्यों सुबह-सुबह अपना मूड़ ख़राब करते हैं. मैं हैंडपंप से दो-चार बाल्टी पानी खींच लाऊंगी.''

'जीवन में तुम्हें कुछ भी सुख नहीं दे पाया नेहा. गांव में अध्यापक था तब भी और अब शहर में सहकारी निरीक्षक बन गया, तब भी, तुम पर से गृहस्थी के काम-काज का बोझ कम नहीं हुआ.' अभिषेक ने भावुक होकर नेहा का हाथ थाम लिया.

''आप ऐसा क्यों सोचते हैं. घर का काम भी कभी बोझ हुआ है. मुझे तो इसमें बहुत सुख मिलता है. मुझ जैसी भाग्यशाली स्त्री कौन होगी जिसे मनचाहा सब कुछ मिल गया हो. हां दुख केवल उस समय होता है जब आप अपनी परेशानियां मुझसे छिपा लेते हैं. अभी की ही बात लीजिए. आप पिछले तीनचार दिनों से

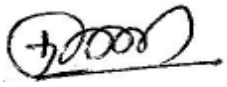

१ जनवरी १९५२, ग्राम-बिस्टान, जिला-खरगोन (म.प्र.); एम.ए.(हिंदी)

लेखन : देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, लेख, कविताएं, व्यंग्य एवं लघुकथाएं निरंतर प्रकाशित.

प्रकाशन : 'पुतले बिकाऊ हैं', 'अजगर बैठे आसन पर' (दोनों व्यंग्य-संग्रह) प्रकाशित. काव्य संग्रह 'इंच इंच तुम्हारे पास', 'तर्कश के तूणीर' (ल.संग्रह) प्रकाशनाधीन.

संपादन : 'सहस्त्रबाहुचरित्रम' (पुस्तक), 'हैदय क्षत्रिय संसार' (मासिक), 'स्वर्णोतुंग' (काव्य संग्रह), 'व्यंग्य-मध्यप्रदेश से' (व्यंग्य संग्रह), एवं 'कहानियां मध्यप्रदेश से' (कहानी संग्रह) के सहयोगी संपादक.

विशेष : राष्ट-ीय सेवा योजना के अंतर्विश्वविद्यालय शिविर में शिक्षाकाल में महाविद्यालय का प्रतिनिधित्व. अनेक वाद-विवाद, भाषण व निबंध प्रतियोगिताओं के विजेता. कुशल मंच संचालक, लघु नाटिकाओं का लेखन.

सम्मान : अखिल भारतीय भाषा साहित्य सम्मेलन द्वारा 'समन्वयश्री' व म. प्र. पत्र लेखक मंच (बैतूल) द्वारा 'साहित्यश्री' से तथा म. प्र. लेखक संघ के 'माणिक वर्मा व्यंग्य सम्मान-२००७' से अलंकृत.

संप्रति : म.प्र.लेखक संघ के प्रादेशिक मंत्री व सहकारिता विभाग म.प्र. में राजपत्रित अधिकारी.

परेशान हैं. लेकिन मुझे कुछ नहीं बता रहे हैं? बताइए ना क्या बात है.'' नेहा ने स्नेह से पूछा.

''कुछ ख़ास नहीं. सब नौकरी की झंझटें हैं. जो अनचाहे ही हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में रच-बस जाती हैं और जिन्हें हर स्थिति में झेलना पड़ता है. जीवन में अनेकों बार ऐसे अवसर आते हैं जब आत्मा की आवाज़ के विरुद्ध काम करने की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे आदमी किसी तरह का समझौता नहीं

करना चाहता. यही चिंता का मूल कारण है. बहरहाल तुम इस पचड़े में न पड़ो. सब ठीक हो जायेगा. तुम जल्दी से मेरे लिए डिब्बा तैयार कर दो मैं शायद रात को देर से आऊंगा.''

''आपकी क्षमता पर मुझे कभी संदेह नहीं हुआ. आप हर स्थिति से निपटने का साहस और धैर्य रखते हैं. जिस कार्य को आपका हृदय स्वीकार नहीं कर रहा है उसे बिल्कुल भी मत करिए. अब आप तैयार हो जाइए.'' नेहा ने उठते हुए कहा. अभिषेक भी समस्त चिंताओं की उपेक्षा करते हुए बाथरूम में घुस गया.

अभिषेक जब बस स्टैंड पहुंचा तो जानकारी मिली कि आज हीरागढ़ जानेवाली बस पंद्रह मिनिट पहले ही जा चुकी थी. अभिषेक के पैरों तले धरती खसक गयी, क्योंकि अगली बस दोपहर बारह बजे ही मिलेगी, जबकि ग्यारह बजे से हीरागढ़ में नामांकन पत्रों की जांच आरंभ करना है. यदि वह समिति कार्यालय समय पर नहीं पहुंचा तो गड़बड़ी हो जायेगी. उधर भाऊ साहब तो उसे फंसाने का मौक़ा ढूंढ़ ही रहे हैं. अब क्या होगा? प्राइवेट बस वालों की इस मनमानी पर वह झुंझला गया. इस समय अभिषेक को अपने विभाग पर भी ग़ुस्सा आया. दूर दराज़ के गांव की समिति का चुनाव अधिकारी बनाकर झोंक दिया भट्टी में और व्यवस्था के नाम पर आंखें मूंद लीं. चुनाव में कुछ भी हो जाये तो भुगते कर्मचारी. पर इस समय बिलबिलाने से क्या लाभ होगा. हीरागढ़ जाने की कुछ तो जुगाड़ करनी ही पड़ेगी. तभी बस स्टैंड के एक हमाल ने आकर बताया कि- ''बब्बन मियां की जीप अभी हीरागढ़ की ओर जाने वाली है. आप उनसे पूछ लीजिए शायद आपको वे ले जायें.'' अभिषेक की आंखों में चमक आ गयी. वह पूछते हुए बस स्टैंड के बाहर खड़ी जीप के पास पहुंचा और बब्बन मियां को अपनी परेशानी बताते हुए हीरागढ़ तक ले चलने के लिए निवेदन किया. बब्बन मियां फ़ौरन तैयार हो गये. जीप में पहले से ही बैठे तीन-चार व्यक्तियों ने उसे बैठने के लिए जगह दे दी. जब जीप हीरागढ़ की ओर रवाना हुई तो अभिषेक ने राहत की सांस ली. क़रीब आधा घंटा सफ़र करने के बाद जीप ने मुख्य सड़क छोड़ दी और कच्चे रास्ते पर दाहिनी और मुड़ गयी. अभिषेक चौंक गया.

''इधर कहां जा रहे हैं?'' हीरागढ़ का रास्तो तो....''

''पास ही हमारा फ़ॉर्म हाउस है. वहां से थोड़ा सा सामान लेकर चलना है.'' जीप चलाते हुए बब्बन मियां ने लापरवाही से उत्तर दिया.

''अगर देर हो गयी तो बहुत परेशानी होगी. मुझे समय पर हीरागढ़ पहुंचना बहुत आवश्यक है. बब्बन भाई चुनाव का काम है प्लीज़ पहले मुझे हीरागढ़ छोड़ दीजिए.'' अभिषेक ने अनुनय भरे स्वर में कहा. बब्बन मियां ने एक ज़ोरदार ठहाका लगाया. अभिषेक सहम गया.

''इंस्पेक्टर साहब आप तो चुपचाप बैठे रहिए. चुनाव आपके बिना भी हो जायेगा.''

अभिषेक को समझते देर नहीं लगी कि उसका अपहरण किया जा रहा है. ''जीप रोकिए. मुझे यहीं उतार दीजिए.'' उसने जीप से कूदने के अंदाज में कहा.

''आपको जीप से उतार दूं असंभव. सुबह से आपको जीप में बैठाने के लिए कितनी मेहनत कर रहे हैं. आपकी भलाई इसी में है कि आप चुपचाप बैठे रहो.'' डरावने से चेहरेवाले व्यक्ति ने मूंछें मरोड़ते हुए अभिषेक को धमकाया. उसे लगा कि उसके शरीर से किसी ने सारा ख़ून चूस लिया. वह घिर चुका था. बुरी तरह फंस चुका था. कूदकर भाग भी नहीं सकता. क्या वे उसे आसानी से भाग जाने देंगे? अकेला इन बदमाशों से निपट भी तो नहीं सकता. तभी झटका खाकर जीप रुकी और सभी व्यक्ति फटाफट कूद पड़े.

''नीचे उतर आइए.'' बब्बन मियां की रौबदार आवाज़ से फॉर्म हाउस गूंज उठा. अभिषेक के पास बात मानने के अलावा चारा नहीं था. वे लोग उसे घेर कर एक कमरे में ले गये. ''हां तो चुनाव अधिकारी महोदय आपने भाऊ साहब के प्रस्ताव पर क्या विचार किया.''

अब अभिषेक के सामने स्थिति स्पष्ट हो चुकी थी. भाऊ साहब इतनी नीचता पर उतर आयेंगे उसने कल्पना भी नहीं की थी.

''मैं उन्हें उचित उत्तर दे चुका हूं. आप लोग मुझे छोड़ दीजिए. आप मुझे धोखे से बलपूर्वक यहां ले आये हैं. जो आपने ठीक नहीं किया मैं....''

''आपको हम अभी छोड़ देते हैं बस आप इन काग़ज़ातों पर दस्तख़त कर दें.'' बब्बन मियां ने काग़ज़ातों का एक पुलिंदा अभिषेक को थमाते हुए कहा- ''ये उन ग्यारह उम्मीदवारों के फॉर्म हैं जो पंडित जी ने प्रस्तुत किये थे साथ में सूची भी है जिस पर आपको दस्तख़त करना है.'' अभिषेक ने देखा वैद्य नियोजन पत्रों की सूची और निर्विरोध निर्वाचन की घोषणा का फॉर्म टंकित किया हुआ है. सबसे ज़्यादा आश्चर्य उसे इसे बात पर हुआ कि ये नामांकन फॉर्म तो समिति के दफ़्तर में अलमारी में सील्ड किये हुए रखे थे. इनके पास कैसे पहुंच गये. उसने दृढ़ता से कहा- ''नहीं यह असंभव है. मैं अन्य उम्मीदवारों के साथ धोखा नहीं कर सकता. आप लोग ग़ैरक़ानूनी काम करवा रहे हैं. मैं इन पर दस्तख़त नही करूंगा.''

''जनाब, पहले आप पूरी बात समझ लीजिए यदि आप इन काग़जातों पर दस्तख़त कर देतें हैं तो भाऊ साहब आपकी हर

प्रकार की मदद करेंगे. आपके भाई को कोऑपरेटिव बैंक में तत्काल सर्विस दी जावेगी और इसी शहर में आपको सरकारी क्वॉर्टर आबंटित करवा दिया जायेगा. आपको कुछ धनराशि भी मिलेगी. न मानने पर सस्पैंड होकर बरसों सड़ते रहेंगे, हो सकता है कि नौकरी से भी हाथ धोना पड़े. यदि आप दस्तख़त नहीं करते हैं तो कान खोलकर सुन लें कि भाऊ साहब के हाथ बहुत लंबे हैं जो आपकी पकड़ से बहुत दूर हैं.'' बब्बन मियां ने धमकाया.

''मैं आपकी बात का निर्णय समिति कार्यालय में जाकर करूंगा. यहां दस्तख़त किसी भी शर्त पर नहीं करूंगा.'' अभिषेक ने जाने का उपक्रम करते हुए निर्णयात्मक स्वर में कहा.

''आप नहीं जा सकते. यहीं आराम फरमाइए. हां, एक बात और .... शायद आप अपने मित्र सुधीर कटारिया की हालत को बहुत जल्दी भूल गये. यहां बैठे-बैठे याद कीजिए कि उसकी क्या दुर्दशा हुई थी.'' कहते हुए बब्बन मियां ने चारों व्यक्तियों को कड़ी निग़रानी रखने का निर्देश दिया. वे सभी बाहर निकल गये और कमरे का दरवाज़ा बंद कर दिया. अभिषेक ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने लगा, ''मुझे छोड़ दीजिए. मैं बर्बाद हो जाऊंगा. राजनीति के हवन कुंड में मुझ निर्दोष की आहुति मत दो.'' लेकिन वहां सुनने वाला कोई नहीं था. उसे सुधीर कटारिया वाली घटना याद आ गयी.

अभी दो साल पहले की ही तो बात थी. सुधीर को उस सोसायटी का ऑडिटर नियुक्त किया गया. भाऊ साहब जिसके चैयरमेन थे. ऑडिट के दौरान गेहूं एवं चना ख़रीदी में दो लाख रुपये की हेराफेरी का मामला प्रकाश में आया जिसका सीधा संबंध भाऊ साहब से बन रहा था. उन्होंने मामला रफ़ा-दफ़ा करने के लिए सुधीर पर विभिन्न प्रकार के दबाव डाले मगर सुधीर टस से मस नहीं हुआ और भाऊ साहब के विरुद्ध प्रकरण बनाने की तैयारी करने लगा. भाऊ साहब इस मैदान के पुराने खिलाड़ी थे और सुधीर जैसे ऑडिटरों से कई बार निपट चुके थे. इससे पहले कि उनके विरुद्ध कोई कार्रवाही हो रातों रात समिति कार्यालय के समस्त रिकॉर्ड चोरी चले गये. गोदाम में आग लग गयी. न रहा बांस और न बजी बांसुरी. फिर उन्होंने सुधीर को फंसाने के लिए जाल बिछाया. अधिकारियों से लेकर मंत्रियों तक शिकायतें करायी गयीं. उस समय तो नीचता की पराकाष्ठा हो गई. जब एक औरत से सुधीर के नाजायज़ संबंध बताकर उसके मान सम्मान एवं समूचे चरित्र की घिनौनी हत्या की गई. उसके चारोंओर भाऊ साहब का शिकंजा कसता चला गया. मकड़ी के जाल में फंसा सुधीर कई दिनों तक हैरान परेशान रहा. आख़िर भेड़िए के सामने बकरी कब तक दम मारती. एक दिन उसे सस्पैंड कर दिया गया. आज भी वह दर-दर की ठोकरें खा रहा है. भाऊ साहब के डर से कोई भी उसकी मदद नहीं करता. निलंबन अवधि का भत्ता भी समय पर नहीं मिल रहा. सुधीर के मासूम बच्चे दाने-दाने को मोहताज हो गये और भाऊ साहब मूंछों पर ताव देते हुए अभी भी चैयरमैन की कुर्सी पर डटे हुए हैं. सुधीर की दुर्दशा को याद कर अभिषेक कांप गया. उसके चारों ओर अंधकार दिखाई देने लगा. नेहा, स्वाति, पीयूष के मासूम चेहरे उसके सामने तैरने लगे. मस्तिष्क चकराने लगा. वह निढाल होकर एक ओर लुढ़क गया. अधमूंदी आंखों से उसने देखा कमरे के एक कोने में बने मकड़ी के जाल में उलझा हुआ पतंगा छटपटा रहा है और मकड़ी धीरे-धीरे पतंगे की ओर बढ़ रही है.

▯ अनुराग भवन, पंचवटी नगर-२,
बायपास चौराहा, करोंद, भोपाल- ४६२०३८
मो. ९८९३७२०९९१

दोहे

हैरत में बेताल

▯ अशोक अंजुम

देश हो गया आपके अब्बा की जागीर।
जैसे चाहे भोगिए जनता हुई फ़कीर॥

जब-जब भी दिल में बढ़ी सत्ता-सुख की प्यास।
जनता को तब-तब मिला रक्त-सना इतिहास॥

धृतराष्ट्र-ों के मोह ने सदा रचा विध्वंस।
इस सत्ता के प्यार में मिटे वंश पर वंश॥

अरी व्यवस्था, ज्ञात है जो है तेरे पास।
अंतहीन बेचैनियां, मुट्ठी भर सल्फास॥

राजनीति ने कर दिया ऐसा बेड़ा गर्क।
शेर-श्वान में अंततः रहा नहीं कुछ फर्क॥

राजन चुप साधे हुए हैरत में बेताल।
लोकतंत्र के आंगना बिखरे पड़े सवाल॥

राजनीति से देश की बिगड़ गये हालात।
अभी उजाला था हुआ अभी घिर रही रात॥

तेरे-मेरे बीच में बनने लगी दरार।
ये मौसम मतदान का जादू रचे अपार॥

लोकतंत्र! तू धन्य है, अज़ब तेरे दस्तूर।
आज गधे भी पा रहे सुविधाएं भरपूर॥

जादू चला चुनाव का वोट बन गये बीन।
गली-गली में नाग है वाह-वाह क्या सीन॥

संपादक : 'प्रयास'ट-कगेट,
कासिमपुर, अलीगढ़ (उ.प्र.)-२०२१२७

कहानी

चुटकी भर सिंदूर बिना

अब की गर्मियों में मां के बुलाने पर जब मैं मायके गयी तो घर में एक कृशकाय बुढ़िया को चलते-फिरते देखा.

- मां यह वृद्धा कौन है?

मां चुप रही तो मैंने फिर पूछा- कौन?

- बेचारी बखत की मारी है. तुझे याद है बचपन की, जब हम रामकरण मामा के गांव गये थे? मैंने दिमाग़ पर जोर देते हुए कहा- हां-हां कुछ है तो याद.

- उनके यहां गेंदा मौसी थी.

- हां जो बच्चों को गुड़-चने बांटा करती थी.

वही गेंदा मौसी है यह.

यह गेंदा मौसी है? मेरी आंखें आश्चर्य से फटी रह गयीं. चकरी सी फिरती, खिलखिला कर हंसती, काले बालों और सफेद दांतों से सजी गेंदा मौसी की धुंधली आकृति को मैं इस वृद्धा में खोजने में असमर्थ थी. मेरे सगे मामा के साथ उठने-बैठनेवाले रामकरण भी हमारे मामा बन गये थे. उस समय का मुझे अधिक कुछ याद नहीं. हां, मामा का रौब और क्रोध याद है. घर तो क्या सारा गांव उनसे थरथराता था. कुछ पूछते या कहते हुए बेचारे नौकरों की घिग्घी बंध जाती थी. मामा का नाम लेते ही बच्चों का कोलाहल क्षण में शांत हो जाता था. गांव की कोई भी औरत उनके सामने बिना घूंघट किये नहीं निकलती थी. 'ओह तो गेंदा मौसी है, यह.' मैं निःश्वास छोड़कर कहती हूं.... पर ये यहां, हमारे यहां कैसे?- अरे बेटा, यह लंबी कहानी है, अभी तू थकी आयी है. बाद में होती रहेंगी ये बातें. मां ने कहा और रसोई में चली गयी. रसोई में चूल्हे के पास गेंदा मौसी बैठे-बैठे कुछ काम निपटा रही थी. मां से पूछती जाती - कितना तेल? कितनी मिरच ? कितना आटा?

मैं देर तक नहाती रही. पानी की भरी बाल्टियों में कई बार गेंदा मौसी की आकृति तैर जाती. कमर पर घड़ा और हाथ में बाल्टी उठाकर कैसी लचकानी चाल से चली आती थी. वे दृश्य जिनका कभी कोई महत्व नहीं रहा, जो मन में किसी कोने में बरसों दबे पड़े रहे, आज अनायास उभर कर मुझे सताने लगे हैं. इंदु, सीता, मोहन, रमेश, पुरुषोत्तम, सबकी 'मौसी मां'आज इतनी असहाय सी, इतनी लाचार सी, हमारे घर. मां के घर. वे सब कहां गये? और रौबीले रामकरण मामा. जिनके घर की यह मालकिन थीं... शायद.

मुझमें तब इतनी समझ कहां थी कि मालकिन संबोधन के लिए किसी भी औरत का चूड़ी-बिछुओं में बंधा होना ज़रूरी है. मांग में चुटकी-भर सिंदूर की रेखा उसे पत्नी,भार्या, गृहिणी, गृहस्वामिनी, अर्धांगिनी, जैसे शब्दों से सजाती संवारती है.

रसोई में पटरा डालकर मैं खाना खाने बैठ गयी. मां एक-एक चीज़ बड़े प्यार से परोस रही थी. चूल्हे पर मिट्टी का तवा रखा था. गेंदा मौसी उस पर रोटी सेंक रही थी.

।। उर्मि कृष्ण ।।

मैंने मुंह में कौर रखते हुए मां से पूछा - मां आजकल गैस ख़त्म हो गयी है क्या?

- नहीं गैस तो है, पर मौसी से उस पर खड़े-खड़े रोटी नही बनती. यह सुबह से उठकर चूल्हा जला देती है. मौसी से तो ख़ाली बैठा ही नहीं जाता. रोटी सेंकते हुए गेंदा मौसी ने कहा - काम में बखत कटी जाय बेटी. हां यह बात तो है - मैंने वृद्धा मौसी की बात का समर्थन किया.

दो साल बाद इंदौर आना हुआ था. इसलिए दो-तीन दिन तक मेरे पास सखी सहेलियों, जान-पहचानवालों, रिश्तेदारों की भीड़ लगी रही, एक के बाद एक मिलने आते रहे. वृद्धा मौसी से बात करने का समय नहीं मिला. कभी मिला भी तो मौसी सहमी-सहमी सी रही. शहरी पढ़ी-लिखी लड़कियों से बात करने में वह बहुत कतराती थी. उसके अनुसार उसके पास शुद्ध गांव की बातें होती हैं जो हम शहरियों के किसी काम की नहीं हैं.

मौसी पिछले आंगन में नीम तले बैठी गेहूं साफ़ कर रही थी. इसी नीम तले बैठना मुझे भी बहुत अच्छा लगता है. बचपन की बहुत सी स्मृतियां इसके साथ जुड़ी हैं. मैं भी वहीं बैठ गयी. मौसी उठने लगी. 'कुर्सी लायी दूं थारे वास्ते नहीं-नहीं, मुझे खाट पर बैठना अच्छा लगता है. कुछ देर हम लोगों के बीच मौन रहा.

मेरा मन प्रश्नों से भरा था. पर कहां से शुरू करूं समझ नहीं पा रही थी.... छोड़ो मां से पूछ कर जान लूंगी. बहुत सी बातें तो ... पर मां के साथ बात करने के लिए तो अनंत विषय फैले पड़े हैं? भाभी कब आयी थी? भैया का बिजनेस जम गया? कमल अब आगे क्या करेगा?.... हमारी खेती का क्या हुआ?.... बग़ीचे से आम जाते हैं?.... मकान का पिछला हिस्सा क्यों नहीं बनवा लेते?.... पिताजी की पेंशन शुरू हो गयी ?.... कितना किराया आ रहा है आजकल? शीला और मधु आती हैं कभी? विजया के तलाक़-केस का क्या रहा?.... कितनी बातें?

- मौसी, इंदु और सीता कहां हैं आजकल? मैंने पूछ ही लिया.

- सब अपणा-अपणा घर.

गेहूं पर हाथ चलाते हुए बिना सिर उठाये ही मौसी ने उत्तर दिया.

-शादी हो गयी उनकी?

-शादी, दो-दो बालक हैं उनका तो.

- मोहन और पुरुषोत्तम?

- वो बी बंबई, कलकत्ता जाणे कां-कां है. उदासीन भाव से मौसी ने कहा.

- रमेश तो दिन भर आपका पल्लू पकड़े फिरता रहता था. वह कहां है आजकल?

- ऊ, काई देस केवाय? सात समंदर पार.

-अमरीका?

हां, हां वही गया है.

- बाहर से विजया की आवाज आयी तो मुझे उठकर आना पड़ा. इधर-उधर की गप्पों में शाम हो गयी. धीरे-धीरे गेंदा मौसी खुलती जा रही थी. मुझ पर विश्वास-सा जमता जा रहा था. वे जब-तब मेरे पास आ बैठती.

- बेटी थारी मां केती थी तूं काणी (कहानी) लिखे.

- हां कभी-कभी?

- म्हारी काणी लिखी दे.

- मैं लिख भी दूंगी तो तुम उसे पढ़ तो नहीं सकेगी मौसी.

- म्हारे पढ़ी ने काई होयेगो म्हारा तो रुआं-रुआं (रोम-रोम) में लिखी थकी है. कहते हुए वृद्धा का चेहरा उदासी से भर गया और उसके बाद जो कहानी वृद्धा ने सुनायी, वह मेरे रोम-रोम में समा गयी.

- म्हारी मां ने बारा बरस की को ब्याब करी दियो. उनाज

उर्मि कृष्ण

१४ अप्रैल, हरदा (म.प्र.),
एम.ए.(राजनीति शास्त्र), साहित्यरत्न, मांटेसरी ट्रेड

लेखन : पिछले तीस वर्षों से निरंतर लेखन-हास्य-व्यंग्य, यात्रावृत्त, कहानी, उपन्यास, बाल साहित्य, रेडियो वार्ताएं तथा प्रहसन, लेख व फीचर संपादन, लगभग हजार रचनाएं सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित.

प्रकाशन : वन और पगडंडियां (उपन्यास), मन यायावर, भारत : एक भावयात्रा (यात्रा वृत्त), महल दुमहले, नये सफेद गुलाब, अग्निरथ, धुएं से ऊपर, उंगलियां (कहानी संग्रह), दृष्टि (लघुकथा संग्रह), बीमार पड़ने का सुख (हास्य-व्यंग्य), दीदी इंदिरा, खेल खेल में विज्ञान, सबका प्यारा, मैं परी बनूंगी, चांद का गुस्सा बादल पे उतरा, इंद्रधनुष, झुकेंगे नहीं, मनोरंजक बाल कथाएं (बाल पुस्तकें).

पुरस्कार : वन और पगडंडियां (उपन्यास), मन यायावर (यात्रावृत्त), नये सफेद गुलाब (कहानी संग्रह) हरियाणा साहित्य अकादमी से पुरस्कृत.

विशेष : कुरुक्षेत्र वि. विद्यालय की दो छात्राओं द्वारा उर्मि कृष्ण के समस्त जीवन और साहित्य पर शोध प्रबंध लिखा है. यह अब पुस्तक के रूप में उपलब्ध है.

अन्य : १५ अगस्त १९७१ को अंबाला छावनी के प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. महाराज कृष्ण जैन पोलियोग्रस्त व्यक्ति से विवाह किया. वर्ष २००१ से कहानी-लेखन महाविद्यालय, अंबाला छावनी की निदेशक. मध्य प्रदेश संघ भोपाल की आजीवन सदस्य. लेखिका संघ दिल्ली की आजीवन सदस्य. पूर्वोत्तर हिंदी अकादमी, शिलांग (मेघालय) की सम्मानित सदस्य.

संप्रति : निदेशक कहानी-लेखन महाविद्यालय, संपादन शुभ तारिका मासिक, अंबाला छावनी.

बरस गांव में असी बाढ़ आयी कि नाना-मोटा, जुआन-बूढ़ा, कोई नी रिया. म्हारा कुटम में हूंन, म्हारी मां बची. चार बरस पीछे वा बी रामजी के प्यारी हुईगी. सासरो न मायक्यो सब मिटी गयो.... हूं दूसरा गांव म्हारी भुआ कने आइगी. जुआन-जमान थी. तीन-तीन दिन नी नहाती तो बी सोना सई को रूप चमकतो. पाणी जाती, खेत में जाती तो फूफा साथे हुई जाता, आगे पीछे फिरता, बुआ के या बात अखरनीज थी. एक दिन फूफा ने म्हारे हाथ पकड़ी ने खींची थी की भुआ आइगी. म्हारे काटो तो ख़ून नी, सफ़ेद पड़ी गयी.

- फिर? मैं सांस रोककर सुनती रही.

फिर काई बेटी, मनक (व्यक्ति) को विसास (विश्वास) जातो रे फिर कुण रखे घर में? ... ऊनी घड़ी म्हारे असी करोध चढ़यो की कच्चो खायी जाऊं इना फूका के. इस समय भी मौसी की आंखों में चिंगारियां फूटने लगी थीं.

- तुम्हारी कभी पुरुष के लिए इच्छा नहीं हुई?

-इच्छा किकी नी होय जुआनी में, पण पेट की आग बड़ी थी. फेर म्हारे रोटी कुण देगो. इ तो कुत्ता की जात, मतलब निकाली ने चलता बनेगा. या बात सोचती थी. अपणो-अपणो तकदीर....

मैं चुपचाप सुन रही थी.

-बाबू जी (रामकरण मामा को वह यही संबोधन देती थी. सारे गांव में पांचवीं कक्षा तक पढ़े रामकरण मामा लोगों की चिट्ठियां लिख-लिखकर बाबूजी कहलाने लगे थे) बुआ का देवर लागे था. पांच नाना बालक छोड़ी ने उनकी घरवाली मरी गयी. भुआ ने म्हारे काम करने वां भेजी दी.

- तुम्हें वहां जाकर अच्छा लगा होगा?

- अच्छा न बुरा को सवालई नी थो. माथा पे छप्पर ने पेट में दो रोटी चाबे थी. पेट की आग बुरी होय. वृद्धा चुप होकर पेड़ के तने को देखने लगी.

मैं एकटक इस वृद्धा को देख रही थी. 'पेट की आग बुरी होय', उसके शब्द कानों में बज रहे थे.

कुछ क्षण बाद वह बोली- बाबूजी का घर काम धंधा न बालकना में हूं तो सब कई भूलीगी. म्हारी सीता. म्हारी इंदु. म्हारो मोहन. म्हारो परसोत्तम. म्हारो रमेस.

- सगला (सब) भूली गया. उसने आंखों में आयी बूंदों को पोंछ लिया. भरे कंठ से फिर बोली- इंदु तो दो मइना की थी जद मैं आयी. असी रोती.... काई बताऊं? आखी रात बठे-बठे कटती.... आखो दन आगे-पीछे फिरता सगला. अब उसकी आंखें टपाटप बरसने लगी. कुछ क्षण संभल कर वह फिर रुंधे कंठ से कहने लगी - बाबूजी....आसी जुआनी जिनके चड़ाई दी बुढ़ापा में कई तो सोचता म्हारा सारु (लिए)? इत्ति बड़ी हवेली में एक कोठड़ी तक म्हारा नाम पे नी करी.... क्यों करता? हूं कुण लागूं थी उनकी. उसकी आंखों से दो बूंदें गिरीं और मृत बाबूजी को श्रद्धांजलि देतीं धरती में समा गयीं. मेरे मन में गहरे धुंधलके को चीरती कोई स्मृति फिर चीत्कार कर उठी. उस समय गांव की सभी औरतें घुस-फुस कर गेंदा मौसी का परिचय रामकरण मामा की रखैल के रूप में दिया करती थीं. इस रिश्ते का अर्थ मेरे बाल मन पर बैठता ही नहीं था. आज समझी हूं तो सांत्वना के लिए शब्द नहीं खोज पा रही.

- रामकरण मामा के तो खेत और बाग भी थे. मैं बात को हल्की-फुल्की करना चाहती, पर होती ही नहीं.

- छोगरानाने तिनको नी राख्यो, सब बेची बाची ने पैसा बांटी लिया.... हूं सरपंच कने गयी थी, म्हारे कई तो दिवाड़ी दो.

- फिर ?

- ऊ केतो रियो कानून थारा हक में नी. हां, छोराना के समजाई दूंगी, थारे खाणो-पीणो दिया करेगा. मौसी की यह बात सुनकर मैं तिलमिला उठी. जायदाद में हिस्सा लेने के लिए रिश्ते की मुहर ज़रूरी है.

- मौसी अब तू उन बातों को भूल जा. मैं धीमे स्वर में सांत्वना देती हूं.

- भूली नी सकती नानी (बच्ची). बी (वे) ते म्हारे साथ जलेगी... कदी (कभी) टीके नी लगायो. कदी चूड़ों नी पेरयो. कदी रंगदार धोती नी ओढ़ी... फिर बी घरवाली सरीखों को घर संभालती. बालकना के पालती कदी-कदी हूं तकदीर सराती (सराहती). बेरा (औरत) को जमारो सुफल हुई गयी. सब कई पायी लियो. सपनो देखतीर मेंदी रच्चया हाथ न पीलो ओढ़ी ने बाबूजी का साथे पटड़ा पै बैठी हूं, गठजोड़ो बांधी ने.

उसने एक गहरी सांस ली और फिर बोली- सुपनो सुपनो थी. सांची थो वन-रात छोरा-छोरीना का ब्याह सदी में हूं मरती-खपती, न मूरत (मुहूर्त की बखत म्हारे खड़ी नी रेवा देता.)

बहुत देर हमारे बीच मौन छाया रहा.गांव के संकुचित और निश्चल परिवेश में रहती आयी मौसी के लिए मेरे मन में बार-बार जो प्रश्न उठता था वह पूछ ही लिया- बाबूजी के साथ रहते आपके मन में कभी पाप-भावना नहीं आयी?

कदी-कदी जद पूजा में रखी उनकी ब्याता की फोटू देखती

तो मन में बात उठती हूं पाप करी री हूं. हूं बाबूजी का ब्याता नी. यो सब पाप फेर भगवान की फोटू देखणे लगती.... जिकासे ब्याव हुयो थो उकी सूरत तो देखी लेणे दे तो... अब हूं काई करूं? म्हारे रखेगा बाबूजी?.... यदि मैं राते उनका कमरा में नी जाऊं ? नी रखी सकता.... एक दो बखत जब म्हाने पाप को नाम लियो बाबूजी गरजी उठया. सिवाय बाबूजी का म्हाने कोण दूसरो आदमी देखयो हे. मन समझाई लेती. सीता सावित्री एक आदमी का संग रई केतो सती केवाई. ....काओ नानी, हूं झूठी तो नहीं बोलूं?

-बिलकुल सही कहती हो मौसी. मैं धीरे से कह देती हूं और फिर आगे का अध्याय सुनने को आतुर हो उठी हूं.

- तू जाणे चालीस बरस में म्हाने कम जुलम थोड़ा सया. बाबूजी असा. ग़ुस्सा का तेज़ था कि खड़ी की खड़ी धकाई देता. भरी थाली फेंकी न मारता.

कहने के साथ ही मौसी ने मुझे अपने शरीर पर कई घाव-चिन्ह दिखाये.

- कोई ब्याता वी काई सैन (सहन) करेगी, जित्तो म्हाने सहयो. एक दिन मोहन के मारने दौड़या. हूं सामे आइगी. असो डंडो पड़यो.... कमर टूटीगी. .... बालकना के छाया की तरा राखती. बी तोड़ता-फोड़ता न अपणो नाम ली देती. ....सैर (शहर) में भणावा (पढ़ने) जाता. पर भात में देर से उठता तो म्हारो कसूर. कालेज मा फेल हुई जाता तो म्हारो कसूर. रेल चुकि गया, तो म्हारा कसूर.

- वो कैसे?

- कैसे कांई. बाबूजी केता, तूने उनके जल्दी तयार नी करया?.... रोटी में देर कर दी. उनका कपड़ा बखत से नी धोया.... अरे मुकती बातां.

- एक बात बताओ मौसी, क्या बाबूजी ने तुम्हें कभी प्यार नहीं किया? मौसी इस बात पर कुछ क्षण चुप रही. फिर बोली - आदमी को पिआर लाड़ कसो होय म्हाने कभी नी जाणयो. कदी बुखार-ताव में दवा की पूछी लेता, कभी सहर से लट्ठा की धोती लाई देता. बस इतना लाड़ से तो में निहाल हुई जाती. दिन में मारी-फूटी ने रात में बिस्तर में बुलाई लेता. मैं सब भूली जाती.

मौसी का आख़िरी वाक्य देर तक मेरे हृदय में मथता रहा.

- सब बच्चों के ब्याह-शादी आपके सामने हुए?

- हां म्हारा सामने. म्हारा होते (हाथ) इंदु न सीता को दायजो, बऊ (बहु) ना का कपड़ा गोंणा सब म्हाने तैयार करवाया. .. मणा-मण पापड़ न बड़ी मूहने अकेली ने बणाया.

अच्छा. मेरे मुंह से आश्चर्य के शब्द निकल पड़े.

ककड़ा की बाग सुणी न उठती. दन चड़या तकपीसती. फेर घड़ो उठाई ने पाणी जाती. कोई पचास घड़ा रोज कुआं से खेंचती. फेर भैस दूणी, छाछ करनो, गोबर पूजो, रोटी बरतन चौको.

मैं, इस वृद्धा मौसी को सिर से पैर तक ध्यान से देखने लगती हूं - सफेद बाल. गः में धंसी आंखें, झुर्रियों- भरा चेहरा तथा लकड़ी-से हाथ-पैर. मन और तन दोनों के अत्याचार की साक्षात प्रतिमा. गांव की वह गौर वर्ण तन्वंगी इसी में कहीं छुप गयी है.

इस साठ वर्षीया महिला की तुलना मैं अपनी सांस से करने लगती हूं. सत्तर पार करने पर भी उन्हें देखने वाले एकाएक माताजी संबोधन नहीं दे पाते.

- तो मौसी गहने कपड़े आपने ही बनवाये लड़कियों, बहुओं के?

- हां, पसंद उनकी होती, पैसा हूं देती.

- पैसे के मामले में बाबूजी आप पर विश्वास करते थे?

- हां, बाबूजी ने पैसा का हिसाब कदी नी पूछयो.

- फिर तुमने अपने लिए कुछ बचाया नहीं?

- मुझे पगली में इतनरी अकलई नी थी. घर-बार छोरा-छोरी सब अपणो समझती थी. यो सब छूटी जायगो, असो तो कभी सुपनो बी नी देख्यो थो. ब्रह्मा, विष्णु, महेश सरका तीन छोरा पाल्या....

वह रो ही पड़ी, यह सब कहते-कहते.

- फिर भी, मौसी सभी औरतें कुछ न कुछ बचा ही लेती हैं. तुम तो बहुत भोली निकली.

पांच तोलो सोनो साहू कने थो. सारो डकारी (हजम) गयो. म्हाने उनके कई रख्यो थो, बखत-बे-बखत मांगी लऊंगी. कहकर मौसी ने दोनों हाथ, सिर पर लगा लिये.

किसी अच्छे-खासे इंटरव्यू की तरह मौसी से सब कुछ पूछ चुकी थी. और अब मन को मथने के सिवाय कुछ नहीं सूझ रहा था. याद आयी रामप्यारी चाची, जिसने जन्म-भर पति को पानी का गिलास नहीं दिया और उसके मरने के बाद सारी जायदाद पर अकेली बैठ कर गुलछर्रे उड़ाती रही.

जिस दिन मैं आने की तैयारी कर रही थी, गेंदा मौसी तेज़ बुख़ार में थी. बुख़ार में उसका बर्राना मेरे मन पर सारे रास्ते हथौड़े पीटता रहा था. रमेस....मोहन....सीता....बाबूजी....भगवान म्हारे माफ़ करजो.

सं. 'शुभ तारिका'ए- ४७, शास्त्री कालोनी, अंबाला छावनी (हरियाणा)- १३३००१

संबंध

भूमिका

गेट वे ऑफ इंडिया! हमारे देश का प्रवेश द्वार! अरब सागर की बातें सुनते हुए, अपने पास आनेवाले पर्यटकों की थकान दूर करते हुए और अनगिनत छोटे-बड़े फुटकर कारोबार करनेवालों को रोज़ी-रोटी उपलब्ध कराते हुए कल की बंबई और आज की मुंबई के सिरमौर के रूप में खड़ी इमारत. एक जमाने के ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रवेश की अमिट छाप छोड़नेवाला निशान. दो सौ वर्षों का शासन समाप्त होने के बावजूद अतीत की याद दिलाते हुए, आनेवाली शताब्दियों में झांक रहा निर्माण.

शाम के पांच बजे थे. समुद्र की सैर करानेवाले ज़हाज़ों की संख्या बढ़ गयी थी. एलिफ़ेंटा गुफाओं की ओर जानेवाली फेरियों (मशीनी नावों) की संख्या कम हो गयी थी. पर्यटक चाय और खाने-पीने की चीज़ें बेचनेवालों की शरण में जा रहे थे. फ़ोटोग्राफ़र पर्यटकों को अलबम दिखा-दिखाकर फोटो खिंचवाने के लिए प्रेरित कर रहे थे. एक ओर कुछ लोग घेरे में खड़े होकर बंदर के करतबों का आनंद उठा रहे थे.

इन सबसे हटकर अलग से एक कोने में सीमेंट के चबूतरे पर बैठा राजाराम अपनी एक अलग ही दुनिया में खोया हुआ था. समुदंर की लहरों की ही तरह उसके मन में उथल-पुथल मची थी. सामने ही होटल 'ताज इंटर कांटिनेंटल...' गर्व से खड़ा था. वहां पर पहले आयोजित जाने कितनी पार्टियों में वह जा चुका था. वहीं तो उसने हिम्मत भाई के साथ हाथ मिलाया था.... अनजाने ही उसने अपने हाथ देखे. हथेली की रेखाएं अस्तव्यस्त थीं. यह सब उसका दुर्भाग्य था.... और कुछ नहीं....

राजाराम की कशमकश

कार खड़ी करके जैसे ही मैंने पीछे मुड़कर देखा, तो पाया कि वहां पर अपने दोनों हाथ बढ़ाकर आमंत्रण देते हुए हिम्मत भाई खड़ा है. उसको देखने मात्र से हर बार मेरे होंठ अनजाने ही खुल जाते थे. आदमी बहुत ही विचित्र किस्म का था. ख़ासकर उसकी बातें सुनने के लिए मन करता था. अंदर जाने के बाद उसने जो विनम्रता दिखाई थी, वह अपने जीवन-भर मैं कभी नहीं भूल सकता.

पहली बार उससे मेरा परिचय ताज में भारतीय व्यापार मंडल (इंडियन मर्चन्ट्स् चैंबर) के तत्वावधान में आयोजित एक सेमिनार में हुआ था. हमारे उत्पादों के निर्यात की संभावनाओं का आकलन करने के लिए एक संगोष्ठी आयोजित की गयी थी. उस दिन मैंने यह पाया कि हिम्मत भाई मेरी ओर ग़ौर से देख रहा था. यह मेरे लिए गर्व करने का कारण था क्योंकि मैंने भी उसी तरह उसको ध्यानपूर्वक देखा था. उसके बाद और दो-तीन 'वेट' (मदिरा-युक्त) पार्टियों में हमारी मैत्री मज़बूत हो गयी थी.

।। अंबला जनार्दन ।।

मारुति एक हज़ार को स्वयं चलाते हुए हिम्मत भाई आया. उस समय मैं 'जुहू सेंटार होटल' के लाउंज में बैठा था. हम दोनों परमिट रूम में गये. वह तो पक्का शाकाहारी था. उसके घर में मूली, प्याज और लहसुन भी निषिद्ध थे. मद्यपान का तो प्रश्न ही नहीं था, लेकिन फिर भी वह दूसरों को पार्टी दिया करता था. ख़ुद फलों का रस पीते हुए दूसरों के लिए उनकी पसंद के व्यंजनों का ऑर्डर देता था और बड़े आग्रहपूर्वक ये चीज़ें मेहमानों को खिलाता-पिलाता था. उस दिन उसके साथ हुई बातचीत ने एक नया मोड़ लिया था.

उसने कहना प्रारंभ किया- ''राजा साहब! पुरुषोत्तम जी तो आपके रिश्तेदार हैं. शायद आपको उन्होंने कंपनी में अपना हिस्सेदार बनाया ही होगा. बहुत अच्छे आदमी हैं.''

''हां, पुरुषोत्तम जी मेरे रिश्तेदार ही हैं. वे मेरे मामा जी लगते हैं. उनकी किसी भी कंपनी में मेरा कोई हिस्सा नहीं है.'' हिम्मत भाई के चेहरे पर बदलते रंग को देखकर मुझे बहुत हंसी आयी.

''यह क्या कह रहे हैं भाई साहब! सारी कंपनी को चलानेवाले तो आप ही हैं. आपका कोई शेयर नहीं है, यह सुनकर मुझे यक़ीन नहीं हो रहा है.''

''आप विश्वास करें या न करें. पर यही सच है. मैं तो माहवार वेतन लेनेवाला एक कर्मचारी हूं. मामाजी की कृपा है जिसकी बदौलत मैं आज इस पोज़िशन में हूं.''

''राजा साहब! यह तो आपका निजी मामला है..... मैं समझ सकता हूं. मगर मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं हूं.''

मैंने अपने सामनेवाला गिलास लेकर गटक लिया.

वह ठीक ढाई घंटे की मुलाक़ात थी. हिम्मत भाई को विदा करके मैं अपनी कार चलाते हुए निकला था. मेरा निवास बांद्रा में था. मेरा अपना ही फ़्लैट था. घर के अंदर चलते हुए मुझे लग रहा था... कल तक मुझे कितना नाज़ था... जाने क्यों मेरा मन डोल रहा था. शायद मेरी आंखें लाल हो उठी थीं. मानसी ने मेरी ओर अजीब ढंग से देखा. मानसी मेरी पत्नी है. हमारे दो बच्चे हैं.....

''मुझे थोड़ी देर के लिए अकेले रहने दो.'' यह कहते हुए मैंने फ़्रिज खोलकर अपने लिए ज़रूरी चीज़ें ले लीं और फिर अपने कमरे में चला गया.

□

.... आप बुरा न मानें तो एक बात कहूं. आपके मामा जी ने आपको यह सब फोकट में नहीं दिया है. और क्या कहना? मैं मांगूं तो क्या वे यह सब मुझे दे देंगे? नहीं देंगे. आपकी मेहनत और उससे बढ़कर आपकी क़ाबिलियत के बारे में वे अच्छी तरह जानते हैं. आपने जब नया-नया ज्वाइन किया था, तब टर्न-ओवर कितना था? बिक्री कितनी होती थी?''

''सिर्फ दो करोड़. अब ग्राफ़ क्या कहता है? सत्तर करोड़ से भी ज़्यादा. यह सब क्या पुरुषोत्तम जी से अकेले हो सकता था? लेखांकन, प्रशासन, विपणन.... यह सब आप संभालते हैं. ऐसे में आपको माहवार पच्चीस हज़ार का वेतन.... बस इतना ही? कार और पेट-ोल आजकल साधारण मैनेजर को भी मिलता है. मैं तो नहीं कह सकता कि आपको कितना हिस्सा देना ठीक रहता. कंपनी मेरी तो नहीं है न!''

बर्फ के टुकड़े व्हिस्की में जैसे-जैसे घुल रहे थे, वैसे-वैसे हिम्मत भाई की बातें मेरे मन के भीतर फैल रही थीं.

''भैया! जनम-जनम के लिए तुम ही मेरे भैया रहोगे.'' छोटी बहन की आंखों में चमक थी. साड़ियां और हीरे-जवाहरात ऐसे कि जैसे जीवन में कभी कल्पना भी नहीं की होगी.... शादी के मंडप में जाते हुए उसके दोनों हाथ पकड़कर छोटी बहन ने ये बातें कही थीं.

विवाह-स्थल पर शामियाने में कितनी ही आंखों में आश्चर्य था.... ईर्ष्या थी... इधर-उधर चलते समय हवा में तैरते हुए तरह-तरह की बातें सुनायी दे रही थीं.

''राजाराम बी.कॉम. पास है. लगातार तीन वर्ष पानी नहीं बरसा तो उसने अपना खेत बेचने का फैसला किया. अपने इलाके के लोगों के सिर पर खाड़ी के देश जाने का जुनून सवार हो गया तो उसने भी इसके लिए कोशिश की. खेत बेचने से जो पैसा मिला,

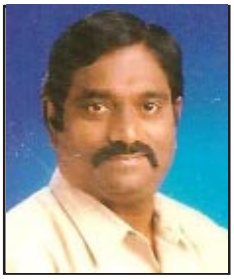

अंबला जनार्दन

९ नवंबर १९५०, मुंबई

मूल निवास : ग्राम धर्मोरा, मंडल- मोर्ताड, जिला- निजामाबाद (आं. प्र.)

शिक्षा : एम.कॉम., एल.एल.बी, सीएआइआइबी

सेवा : यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, बंबई मर्कन्टाइल बैंक, कॉस्मोस बैंक, प्रेसमन कॉर्पोरेट, दीवान हाउसिंग फाइनेंस कॉर्पोरेशन लि. में सेवा के बाद संप्रति वित्तीय परामर्शदाता के रूप में स्वतंत्र रूप से सक्रिय.

प्रकाशित कृतियां : 'बोंबायि कथलु' ('बंबई की कहानियां '- कहानी -संग्रह); 'अंबल्ला जनार्दन कथलु' (कहानी संग्रह); 'बोबायि नानीलु' (बंबई के नन्हें मुक्तक-काव्य); 'मुंबई मुव्वलु' (मुंबई के घुंघरू- काव्य); 'बोम्म वेनुका' ('चित के पीछे' और अन्य कहानियां - कहानी संग्रह). 'चित आणि पट' (चित और पट- मराठी में अनूदित कुछ कहानियों का संग्रह). तेलुगु और अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, कविताएं और लेख प्रकाशित. कुछ कहानियां पुरस्कृत. एक कहानी 'चमुरुदीपम' (चिराग़) महाराष्ट- शासन द्वारा ७वीं कक्षा में पाठ्यक्रम में सम्मिलित.

संप्रति : मुंबई आंध्र महासभा के न्यास-सदस्य. तेलुगु भाषा, संस्कृति एवं समाजसेवा के उपलक्ष्य में 'मुंबई तेलुगु रत्न' उपाधि से सम्मानित.

वह लेकर उसने किसी एजेंट को पकड़ा और दुबई पहुंच गया. पहले कहा गया था कि दो साल की नौकरी मिलेगी. पर दो महीने के अंदर ही वह वापस लौट आया. यह सब अरबी में लिखे हुए वीज़ा का प्रताप था. उसकी क़िस्मत अच्छी थी कि पुरुषोत्तम जी की कृपा से.....''

हां, सच ही तो है. यह सब पुरुषोत्तम मामा जी की कृपा है. वे स्वयं एक मैकेनिकल इंजीनियर हैं. नौकरी के लिए उन्होंने कभी हाथ-पैर नहीं मारे थे. स्नातक की उपाधि मिलते ही बैंक से ऋण लेकर अपना स्वयं का उद्योग शुरू कर लिया था. मेरी स्थिति भी कुछ-कुछ उन्हीं जैसी थी. उनसे मिलने के बाद मैंने हिसाब-किताब लिखने से अपना काम शुरू किया था. धीरे-धीरे विपणन के तौर-तरीक़े भी अच्छी तरह समझ में आ गये थे. दो ही साल के अंदर प्रबंधक के स्तर तक उन्नति की थी. कार्यालय की सभी ज़िम्मेदारियां मैंने अपने सिर पर ले ली थीं, इसलिए मामा जी को उत्पादन पर अपना ध्यान केंद्रित करने में सहूलियत मिली. धीरे-धीरे व्यापार का विस्तार हुआ.

बाज़ार के रुख़ के अनुसार मैंने जो परामर्श दिये थे. उनके अनुसार उन्होंने नयी-नयी चीज़ें बनाना शुरू कर दिया था. इंडस्टि-यल इस्टेट में बड़ी फ़ैक्टरी स्थापित की गयी थी. हमारे उत्पाद जो केवल महाराष्ट- तक ही सीमित थे, क्रमशः अन्य राज्यों में भी पहुंचने लगे थे. राष्ट-ीय स्तर पर वितरण की एक मजबूत व्यवस्था क़ायम करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मेरी ही थी.

हमारे ब्रांड का नाम देश भर में फैल गया था. मेरी मेहनत के कारण बैंक ऋण मंजूर हो गये थे. कंपनी पब्लिक लिमिटेड हो गयी थी. दस रुपये का शेयर अस्सी रुपये तक बिकने लगा था. मज़दूरों की संख्या दो सौ पार कर रही थी. यह वह सब कुछ था जो मामा जी की सहायता के बदले उन्हें मैंने दिया था.

जहां मैंने अपने खेत बेचे थे, वहीं पर मैंने ज़मीन ख़रीदी थी. महाप्रबंधक के रूप में मुझे पदोन्नति मिली. कभी-कभी मैं कार में अपने गांव जाया करता था. लोग दांतों तले उंगली दबाते थे.

लोग कहने लगे कि यह सब मामा जी की ही देन है. मैंने उन्हें मना नहीं किया. जब तक हिम्मत भाई ने नहीं बताया, तब तक मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा. पच्चीस हजार के मेरे वेतन में से टैक्स-वैक्स सब घटाकर आख़िर बचता ही क्या है? मैं जो काम कर रहा हूं उससे मेरी आमदनी की तुलना करके देखूं या फिर अपने ही स्तर के कर्मचारियों से अपनी तुलना करूं तो .... ओह .... दस साल की सर्विस में एक फ़्लैट को छोड़कर मैंने कौन-सी अचल संपत्ति हासिल की है? आख़िर मामा जी और मेरे बीच संबंध क्या है? नौकरी..... या रिश्ता?

निस्संदेह यह मालिक और नौकर के बीच का संबंध ही है. इससे बढ़कर कुछ भी नहीं. 'रिश्ता' शब्द मेरे बजाय उन्हीं के अधिक काम आ रहा है. व्यापार में वे रिश्ते को कोई महत्व नहीं देते. विक्रय, वसूली, ख़रीद.... इन सभी से संबंधित विवरण हर सप्ताह उनकी मेज़ पर पेश करना लाज़िमी है. विलंब को वे ज़रा भी सह नहीं सकते. कई बार जब कभी मैंने उनकी कही हुई बातों का मनन किया तो मन हुआ कि नौकरी छोड़कर कहीं दूर भाग जाऊं. ऑफिस में कोई भी व्यक्ति काम करता या न करता, इसकी ज़िम्मेदारी मेरी ही थी. पर फिर भी क्या उसका प्रतिफल मुझे मिल रहा है?..... नहीं.

हिम्मत भाई सही है. मामा जी मुझे फोकट में कुछ नहीं दे रहे हैं. वे बहुत ही नाप तौलकर व्यवहार कर रहे हैं.

यही कारण है कि हिम्मत भाई का प्रस्ताव सुनने के बाद मेरी आशा जाग उठी. मेरी आतुरता ने अंगड़ाई ली कि जीवन में ऊंचे.... और भी ऊंचे स्तर पर पहुंचना चाहिए.

हम जो वस्तुएं तैयार कर रहे हैं, वही चीज़ें बनाने का कारख़ाना लगाने का उसका इरादा है. परियोजना की लागत दो करोड़ है. अगर मैं पाच लाख की पूंजी लगाऊं तो बस, बीस प्रतिशत ज़्यादा वेतन मिलेगा. कार, ड-इवर, और बाक़ी सारी सुविधाएं सो अलग. .....मगर मैं इतना पैसा लाऊं तो कहां से? वेतन से बचत की हुई कोई रक़म तो है नहीं.

हम दोनों लगभग हर हफ़्ते मिलते रहे.हिम्मत भाई की नसीहत ने मुझ पर बहुत अच्छी तरह असर डाला.

छः महीने व्यतीत हुए.

मानसी और हिम्मतभाई के पारिवारिक सदस्यों को डाइरेक्टरों के रूप में लेते हुए एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी की स्थापना की गई. पालघर इंडस्टि-यल एरिया में फ़ैक्टरी शेड पट्टे पर लिया गया. मेरे फ़्लैट पर पचास हज़ार का जो ऋण बाकी था, उसे चुकाकर मैंने नयी कंपनी पर लिए ऋणों के लिये ज़मानत के रूप में उस फ़्लैट की सेक्यूरिटी दे दी. वह इसलिए कि तब तक हिम्मतभाई के नाम विद्यमान तमाम जायदाद की जमानत अन्य प्रकार के कारोबार के लिए दी जा चुकी थी. मशीनरी के लिए भी हमने ऑर्डर दे दिया था.

अगले दो महीनों के अंदर उत्पादन शुरू होना चाहिए था.

लेकिन....

हिम्मतभाई का तर्क

''हलो, केम छे? व्यापार हमारे ख़ून में रचा-बसा है. फुटकर व्यापार से जीवन शुरू करके कुछ हजार करोड़ के वाणिज्य-साम्राज्य के अधिपति बने 'रिलायंस' के धीरु भाई अंबानी मेरे ही राज्य के हैं. जीवन में प्रत्येक बंधन आर्थिक ही होता है. बिज़नेस इज़ माई वे ऑफ़ लाइफ़..... यानी व्यापार ही मेरा जीवन-धर्म है. अगर मैं आपसे आधे घंटे के लिए बातचीत करूं तो उसका कुछ प्रयोजन होना चाहिए. आपको मैं चाहे चाय पिलाऊं या शराब, आज या कल मुझे उससे फ़ायदा चाहिए. माता, पिता, पत्नी, बच्चे, भाई, बहन..... कोई भी हों, सबके सब ज़रुरत से ही बंधे हुए हैं.

प्रेम, अपनापन, बंधन, अनुराग..... यह सब बकवास है. आदमी के आगे-पीछे और आसपास पैसे की निरंतर आवश्यकता है. मनुष्य का मूल्यांकन उसकी जायदाद के अनुपात में होता है. इसलिए ज़्यादा से ज़्यादा जायदाद बनानी चाहिए. व्यापार का विस्तार करना चाहिए. इसके लिए आवश्यक है कि हमें क़ाबिल व्यक्ति मिलें. ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त कर अच्छे वेतन और अन्य सुविधाओं के साथ-साथ उन्हें हिस्सा भी दिया जाये तो? आगे कुछ कहने की ज़रुरत नही. ऐसा आदमी कुत्ते की तरह काम करेगा. मुनाफ़ा कमा कर देगा. लेकिन याद रखना.... स्टियटिंग कभी नहीं छोड़ना.....

राजाराम में यह चमक मुझे नज़र आयी. अपने जाल में फंसाने की मैंने कोशिश की. और वह फंस गया. लेकिन.....

हमसे पहले ही पुरुषोत्तम बहुत तेज़ी से सक्रिय हो उठा. सुनहरा अवसर चूक गया.... बदक़िस्मती की बात है....

किसी दूसरे व्यक्ति की तलाश करनी पड़ेगी. इस दुनिया में क़ाबिल व्यक्तियों और आकांक्षाओंवालों की कमी है क्या?

मैं ऐसा भावुक नहीं हूं कि पहले से ही यह जानने के बाद कि घोड़ा हार जायेगा, उस पर दांव लगाऊं. यह बात मैं पहले ही बता चुका हूं. राजाराम का रोना है कि यह सब मेरे ही कारण हुआ.

अरे पागल कहीं के! हिम्मत भाई नहीं तो और कोई बिम्मत भाई तुम्हें प्रलोभन देता और तुम उसके जाल में फंस जाते.

तुम्हारे दिमाग़ का क्या हो गया था? फिर से शुरू करो..... अपनी ज़िंदगी.

इससे ज़्यादा मैं कह भी क्या सकता हूं?.....मैं तो निमित्त मात्र हूं.

मानसी की मनोव्यथा

कहां का आंध्रप्रदेश और कहां की बंबई? क्या मैंने कभी सोचा भी था कि इस महानगर में आ सकूंगी? बंबई का नाम सुनने मात्र से तब कितनी ख़ुशी होती थी? कितना आकर्षण था?

बिल्ली के भाग हांडी....

जैसे ही यह रिश्ता आया, मैं खुशी के मारे उछल पड़ी थी और बिना किसी हिचक के राज़ी हो गयी थी. पर कुछ लोगों ने मुंह बिचकाया था. वे पीठ पीछे जाने क्या-क्या कहते नहीं अघाते थे. मुझे डरा भी दिया था कि इंच-इंच पर आदमी के हिसाब से भीड़, जहां भी देखो वहीं झुग्गी-झोपड़ियां.... बसों में और रेलगाड़ियों में भारी गर्दी.... इन सबसे बढ़कर गैंगवार.....

आख़िर बंबई आ गयी. बाद में जाने कितने ही लोग अतिथि के रूप में मेरे घर आये थे? कितने ही दिनों के लिए उन्होंने मेरे यहां डेरा जमाया था. हमारी मेहमान नवाज़ी के बारे में यहां और हमारे गांव में कितनी ही तारीफ़ के पुल बांधे थे? क़िस्मत है तो मेरी है. अनुकूल पति, अपनी सगी बेटी की तरह प्यार देनेवाले पुरुषोत्तम मामा जी और मामी जो मुझे मिले थे.

यह सब देखकर भगवान को भी ईर्ष्या हुई.

हमारे घर-परिवार में हिम्मत भाई नाम के ज़हरीले कीड़े ने प्रवेश किया. जब तक मैंने आंखें खोलीं, तब तक हमारी आशाओं के महल धराशायी हो चुके थे. एक-एक वास्तविकता का पता चला तो मेरा सिर चकरा गया.

केवल छह महीने का समय.... इस बीच कितना परिवर्तन हो गया?

ख़रीद में दलाली.... बिक्री में अंडर इन्वाइसिंग्ज यानी वास्तविक राशि से कंपनी के लिए कम राशि दिखाना और बाक़ी रक़म ख़रीदार से स्वयं हासिल करना.... मेरे खाते में बैंक बैलेंस छह लाख तक पहुंच गया है, यह मुझे पता ही नहीं था. किसी-किसी फॉर्म-वॉर्म या चेक पर दस्तख़त करवा लेने के अलावा वे मुझे कोई भी बात तफ़सील से नहीं बताते थे.

एक रात उन्होंने मुझे बताया....

''तुम फ़ैक्टरी की मालकिन बननेवाली हो.''

मैं कुछ समझी नहीं. कुछ विस्तार से समझाने के लिए कहा तो उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा- ''और दस दिन रुको. तुम्हें एक सरप्राइज़ देनेवाला हूं.''

तब तक इंतज़ार करने की आवश्यकता नहीं रही.

उसके दूसरे ही दिन उनकी नौकरी छूट गयी. गोदामों पर दूसरे ताले लगा दिये गये. चौकीदार बदल दिये गये. उत्तम ग्रुप ऑफ इंडस्ट-ीज के साथ राजाराम का कोई भी संबंध नहीं है, इस आशय

के फैक्स संदेश वितरकों और बैंकों को भेज दिये गये. उनके चित्र के साथ देश के तमाम अख़बारों में सूचना प्रकाशित की गयी कि किसी भी व्यक्ति द्वारा उनके साथ किसी भी प्रकार का लेनदेन अपनी ख़ुद की ज़िम्मेदारी पर ही किया जाये.

राजाराम को हल्का-सा दिल का दौरा पड़ा. पीठ में छुरा घोंपने का परिणाम ही यह हृदयाघात था. दस दिन वे अस्पताल में रहे.

अचानक इतना बड़ा परिवर्तन हो गया था. कोई देखने के लिए नहीं आया था. बाज़ार में सिर उठा न पाने की स्थिति थी. पहले जो लोग आदर के साथ अभिवादन करते थे, वे ही लोग अब मुंह छिपाने लग गये थे. ऋण का वितरण रुक गया था. पहले जो ऋण दिये भी गये थे, उन्हें वापस मांगा जा रहा था. आकांक्षा ने स्वार्थ के लिए और स्वार्थ ने विनाश के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था.

हिम्मत भाई ने तो हमारे घर की ओर फिर पलटकर देखा तक नहीं था. सारे के सारे क़र्ज़ हमारे सिर मढ़कर उसने अपनी पूंजी वसूल कर ली थी.

मामा जी के कारोबार को कोई भी ख़तरा नहीं था और वह बेरोकटोक चल रहा था. सुना है, अब तो उनकी बिक्री और मुनाफ़ा पहले से भी बढ़ गया है. कहते हैं, अगर इरादा नेक हो तो भगवान भी मदद कर देता है. शायद यही कारण होगा, मामा जी का सामना करने के लिए शरम के मारे गड़ी जा रही हूं. मुझे पहले ज़रा भी पता होता तो ऐसा कभी नहीं होने देती.

अपने पति का मानसिक मंथन मुझसे देखा नहीं जा रहा है. सूजन को देखकर उन्होंने समझा कि यह ताक़त है. यह सारी प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा वे अपनी ख़ुद की ही समझ बैठे थे. वे नहीं समझ पाये कि यह सब कंपनी में उनके ओहदे से जुड़ी हुई थी.

मामा जी की व्यापार-दक्षता और उदारता को वे कुछ और ही समझ बैठे. मेरे ज़िद करने पर अस्पताल से छुट्टी मिलने के बाद एक बार हम दोनों मामा जी से मिले थे. उस वक़्त मामा जी ने जो कुछ कहा था, वे शब्द अब भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं.

''एक बार वह दिन याद करो राजाराम! जब तुमने कहा था- मामा जी! अपने चरणों के पास ज़रा-सी जगह दे दीजिए. आप जो भी काम बतायेंगे मैं करूंगा. तुम मेरे रिश्तेदार हो इसलिए नहीं, बल्कि अपने प्रांत के हो इसलिए भी मैंने तुम्हें अपने साथ रखा. काम के प्रति तुमने जो लगन दिखाई, उसके अनुरूप तुम्हारा वेतन भी मैंने बढ़ाया. पदोन्नतियां भी दीं. तुम इससे संतुष्ट नहीं हुए. लालच ने तुम्हें घेर लिया. तुमने सोचा कि ऊपर.... और भी ऊपर तुम छलांग लगा सकोगे. इसमें कोई ग़लत बात नहीं है. एक बार...बस एक बार मुझे अपने मन की बात बता देते. तुम अभी नहीं जानते. मैंने सोचा था कि अगले छह महीने में चितूर के पास जो टायर फ़ैक्टरी लगनेवाली है, उसके लिए तुम्हें प्रबंध निदेशक के रूप में नियुक्त कर दूंगा. उस परियोजना के ब्यौरे इन फ़ाइलों में हैं, जो यहां रखी हुई हैं.

राजाराम ने एक बार सिर उठाया. फिर झुका लिया.

''इतने बड़े कारोबार में छह लाख कौन-सी बड़ी रक़म समझ ली तुमने? पहले तुमने मेरे बारे में एक भयंकर व्यक्ति के रूप में कल्पना कर ली. हां, सच ही तो है. मैं तो एक बिज़नेस मैन हूं, व्यापारी हूं. इसीलिए तुम्हें निकाल चुका हूं. तुम्हें मिलनेवाली जो भी रक़म बाक़ी है, वह सब दस दिन के भीतर चुकाने का प्रबंध कर दूंगा. अब तुम जा सकते हो.''

मैंने दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया. हम दोनों चुपचाप बाहर चले गये. यह सब हुए एक साल गुजर चुका है. राजाराम तो अब पागल जैसा बन गया है.

हमेशा उस समुंदर के किनारे.....जहां कभी बड़े ठाट से ऐशोआराम किया था, अब हमारी हालत बड़ी दयनीय हो गयी है. नौकरी पाने की उन्होंने काफ़ी कुछ कोशिश की, बहुत हाथ-पैर मारे. व्यापार में तो वे अपने दोनों हाथ जला चुके थे. हर जगह उनका अतीत ही उनके रास्ते में आया. हमारा जीवन अब एकदम निराधार हो चुका था.

इस बीच न तो हमारे मायके वालों ने और न ही ससुराल वालों ने हमारी तरफ रुख़ किया और हमारी कोई सुध ली. उनके साथ अत्यंत 'घनिष्ठ' प्रेम रखनेवाली उनकी 'छोटी बहन' ने भी नहीं.

कोई फ़ायदा नहीं. अब और देर नहीं करनी चाहिए. मामा जी के पास जाकर अपनी ग़लती के लिए क्षमायाचना करनी ही पड़ेगी.

पुरुषोत्तम का पुनरावलोकन

''ईश्वर उनकी मदद करता है जो अपनी मदद ख़ुद करते हैं.'' यह मेरा दृढ़ विश्वास है.

राजाराम की मां मेरी मौसेरी बहन है. मेरी मौसी की बेटी.

''उत्तम इंडस्ट-ीज'' की स्थापना का कारण केवल रुपया-पैसा कमाना ही नहीं था. यह तो केवल पहला उद्देश्य था. दूसरी वजह थी, कुछ व्यक्तियों के लिए रोज़गार का अवसर उपलब्ध

कराने की मेरी आतुरता. हितैषियों ने चेतावनी दी थी कि क़रीबी रिश्तेदारों को लोगे तो इसमें बहुत सारी परेशानियां होंगी. मैंने दो-तीन दिन तक इस पर ख़ूब विचार किया.

राजस्थान व गुजरात के मारवाड़ियों के कारोबार में महत्वपूर्ण व्यक्ति उनके अपने सगे-संबंधी ही होते हैं. जो रिश्ता उनके व्यापार में बाधक नहीं बन सकता, वह मेरे अपने कारोबार में क्यों कर आड़े आयेगा? मैंने अपने आपसे प्रतिप्रश्न किया कि अपने लोगों को हम स्वयं सहारा नहीं देंगे तो और कौन सहारा देगा!

राजाराम में स्फूर्ति है. फिर, वह मेरे रिश्ते में भी आता है, इस कारण क्यों उसको निराश करूं?

मेरे विचार और मेरे सपने मेरे अपने थे.

'वी.आई.पी. अंडरवियर्स' के जयपाल रेड्डी जी की तरह 'उत्तम'नाम घर-घर में गूंजना चाहिए. विश्व स्तर पर मुर्ग़ी-पालन उद्योग में अपना स्थान बनानेवाले 'श्री वेंकटेश्वर हैचरीज' की तरह और 'बालाजी फूड्स' के 'बंदा वासुदेवराव' जी की तरह 'उत्तम ग्रुप ऑफ कंपनीज' दुनिया पर छा जाये, यह मेरा ध्येय है.

मेरी राय में यह आवश्यक है कि परदेसियों को लाभ कमाकर देनेवाले हमारे प्रांतवालों की निपुणता हमारी अपनी जनता और अपने देश के लिए काम आये.

मेरी आकांक्षा है कि मैं एक उद्योग की स्थापना करूं और उससे मिलनेवाले लाभ से और भी सहायक उद्योग स्थापित कर उनके प्रबंध की ज़िम्मेदारी एक विश्वसनीय व्यक्ति को सौंपकर क्रमशः अपने वाणिज्य-साम्राज्य का विस्तार करूं. मेरी यह तीव्र इच्छा है कि इस तरह विनम्रतापूर्वक अपनी भारत माता का ऋण यथाशक्ति चुका दूं.

इसे कार्यान्वित करने के लिए मैंने जिस व्यक्ति को सबसे पहले चुना, वह राजाराम ही था. पर अचानक अप्रत्याशित रूप में मेरे अरमानों को एक छोटा-सा शॉक लगा. एक हमज़बान दूसरे हमज़बान को सहारा नहीं देता. लोगों की इस ग़लत धारणा को दूर करने के मेरे प्रयास के लिए यह एक आघात है. मेरा यह अभिमत रहा है कि रिश्तों को सुरक्षित रखते हुए जब तक हम व्यापार में समष्टि परिश्रम के बारे में सोच-विचार नहीं करते, तब तक हम औद्योगिक क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ पायेंगे. परंतु अब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई है जिससे मैं अपनी इस राय पर पुनर्विचार करने के लिए विवश हो गया हूं.

अपने राज्य में महत्वपूर्ण उद्योग किसके कब्ज़े में हैं? इन उद्योगों की सफलता का राज़ क्या है? इस बारे में अच्छी तरह वैचारिक मंथन किये बिना हमें आगे बढ़ने के लिए सीख नहीं मिलेगी.

यह प्रांतीय दृष्टिकोण की बात नहीं है. यह तो अपने लोगों की प्रगति के लिए तुलनात्मक रूप में किया जानेवाला हमारा विचार है, चिंतन-मनन है. इसीलिए इस विचार से कि पहले बाहर जीत हासिल करूं और उसके बाद अपने राज्य में सफलता पाऊं, मैंने अपने वाणिज्य के महल की नींव पहले बंबई में डाली. मैंने सोचा कि आगे चलकर धीरे-धीरे अपना कारोबार अपने राज्य में भी फैलाऊंगा.

राजाराम के धोखा देने मात्र से मैं निराश नहीं हूं. उसको मैं उचित सबक़ सिखा चुका हूं. मेरे पास विश्वसनीय व्यक्ति और भी बहुत से हैं. मुझे आशा है कि राजाराम की आपबीती उनके लिए एक शिक्षा के रूप में काम आयेगी.

राजाराम की पत्नी मानसी का फ़ोन.....

''मामा जी, क्या हम एक बार आपके घर आ सकते हैं?''

''क्यों नहीं? आपका स्वागत है.''

अगले रविवार को वे मेरे यहां आनेवाले हैं.

उपसंहार

रविवार.....

सवेरे दस बजे...

जुहू-विलेपार्ले विकास योजना (जे.वी.पी.डी) क्षेत्र में अमिताभ बच्चन के आवास 'प्रतीक्षा' के पास उनके दर्शन के लिए बहुत सारे लोग प्रतीक्षा कर रहे थे. राजाराम और मानसी वहां उस सुपर स्टार को देखने नहीं आये थे. वे इसलिए आये थे कि उसी गली में रहनेवाले पुरुषोत्तम जी की अनुकंपा से शायद कहीं उनके 'सितारे' बदल जायें.

राजाराम बैठक ख़ाने में सिर झुकाकर बैठा हुआ था. उसे ख़ुद अपने दिल की धड़कन सुनाई दे रही थी. ऐसी स्थिति में उसने अपने आपको इसके पहले कभी नहीं पाया था. दरअसल इस प्रकार इंतज़ार में आस लगाये बैठने की नौबत ही उसके सामने तब तक नहीं आयी थी.

ठीक आधे घंटे के बाद पुरुषोत्तम जी वहां आये. आते ही उन्होंने कहा- ''सॉरी. कुछ अर्जेंट काल थे. बात करके आना पड़ा.'

दोनों उठ खड़े हुए. राजाराम एकदम आगे बढ़कर पुरुषोत्तम के चरणों पर नतमस्तक हो गया.

उसी स्थिति में रहकर वह बिलख-बिलखकर रोने लगा.

पुरुषोत्तम जी के लिए यह स्थिति अप्रत्याशित और कल्पना से परे थी.

उन्होंने उसे धीरे से उठाया. ठंडे पानी से मुंह धोने के बाद राजाराम सोफ़े पर बैठा.

''यह क्या भई! बिलकुल छोटे बच्चे की तरह.....?'' उन्होंने कहा.

''नहीं मामा जी! जिस थाली में खाया, उसी में मैंने छेद किया. मुझे कोई भी दंड दिया जाये, वह कम ही होगा और आपको उससे पाप नहीं लगेगा. अब क्षमायाचना करने के भी मैं योग्य नहीं रहा.''

''क्यों मानसी बेटी ! बच्चे कैसे हैं?''

''ऐसे ही, किसी तरह ज़िंदगी घसीट रहे हैं मामा जी ! आपसे क्या छुपा है?''

उन्होंने अपना सिर हिलाया.

''सर! अब मेरी कोई आशा नहीं रही है और न ही मुझमें कोई अहंकार बचा है. मैं आपके दफ़्तर में चपरासी का काम करने के लिए भी तैयार हूं. आपकी छाया को छोड़कर मेरे लिए और कहीं कोई जगह नहीं है. अब मेरी ज़िंदगी की नैया आपके ही हाथों में है.... चाहे आप इसे किनारे लगा दें या मंझधार में डुबो दें.''

पुरुषोत्तम जी ने नौकर को बुलाकर भोजन का प्रबंध करने के लिए कहा. दोनों उठने को हुए.

''यह क्या भांजे! खाना खाये बिना ही आप चले जाओगे? हाथ-मुंह धो लो.''

राजाराम ने हाथ धो लिये. नहीं..... दरअसल उसने अपने अंदर का मैल धो डाला.

उनके पास ही बैठकर पुरुषोत्तम जी ने स्वयं उन्हें भोजन परोसवा दिया. लेकिन राजाराम और उसकी पत्नी के मन में अपराध-बोध भरा था. इसी बीच आशा की एक क्षीण किरण भी कहीं उनके मन के किसी कोने में मद्धिम-सी टिमटिमा रही थी. मामा जी का दिल बड़ा है. वे मन के बहुत अच्छे हैं. इतना अपनापन दिखा रहे हैं तो हो सकता है, वे लोग शायद अपनी एक नयी ज़िंदगी प्रारंभ कर सकेंगे.

□

सुपारी खाते हुए पुरुषोत्तम जी ने अख़बार हाथ में लिया. बहुत देर तक राजाराम पैर की उंगलियों से ज़मीन पर लकीरें बनाता रहा.

''अब हम चलते हैं मामा जी!'' मानसी ने कहा.

''अं....हां. ठीक है बेटी. कभी-कभी आते रहना. इस महानगर में मेरे अपने क़रीबी रिश्तेदारों में तुम्हारा परिवार भी है न!'' उन्होंने कहा.

''अंकल.... तो फिर....दफ़्तर....कब से.... आऊं ?'' उसने हिचकते हुए धीरे से पूछा.

''यह बात अब भूल जाओ राजाराम!'' पुरुषोत्तम जी ने कहा.

''इसका मतलब है कि आपने मुझे माफ़ नहीं किया है. बचपन में कभी मैंने यह नैतिक शिक्षा पायी थी कि लालच से अंततः दुःख ही मिलता है. यह बात मैंने अब अपने अनुभव से सीख भी ली है मामा जी!''

उन्होंने उसके कंधे पर हाथ रखा. ''मैंने भी एक सबक़ सीख लिया है. इसके लिए तुम्हें धन्यवाद देना होगा. यह दुनिया बहुत बड़ी है. अगर वास्तव में तुम्हारे भीतर कोई परिवर्तन आया है तो ज़रूर कहीं न कहीं कोई दूसरा रास्ता तुम्हें मिल जायेगा. तुम अपनी मंज़िल पा सको, इसमें मैं तुम्हारी भरसक सहायता करूंगा. पर एक बात सच है. यह बात यूं ही नहीं कही जाती कि- ''फैमिलियरिटी ब्रीड्स कंटेंप्ट'' (अत्याधिक घनिष्ठता से अवहेलना उत्पन्न होती है). अपने पास रखकर संबंध बिगाड़ने की बजाय दूर रहते हुए एक दूसरे की खोज-ख़बर रखना शायद ज़्यादा अच्छा है. आई विश यू आल दी बेस्ट.''

''थैंक यू मामा जी!'' राजाराम ने पूरे संतोष के साथ कहा. उसका मन अब बिलकुल साफ़ था. कोई अनजाना आत्मविश्वास उसके अंदर भर गया था.

मानसी के हाथों को अपने हाथों में लेते हुए उसने कहा- ''चलो, एक बार हम समुदंर को देखते हैं.''

पुरुषोत्तम जी के होठों पर एक मंद मुस्कान थिरक उठी.... निराशा के आलम से मुक्त होकर आशा के साथ एक नयी ज़िंदगी की ओर क़दम बढ़ा रहे राजाराम को देखकर.

□ बी-२०४ ,धीरज किरण, इन्फ़ेंट जीसस स्कूल के पास, चिंचोली बंदर रोड, मलाड (प.), मुंबई-४०० ०६४
फोन : ९८६७६६७९२६/९९८७५३३२२५

अनुवादक : डॉ. के.वी.नरसिंह राव, बी-२०४, नेमिनाथ टॉवर, एवरशाइन सिटी, वसई (पू.), ठाणे (महा.)- ४०१२०८

कहानी

रंग बदलता मौसम

पिछले कई दिनों से दिल्ली में भीषण गरमी पड़ रही थी लेकिन आज मौसम अचानक ख़ुशनुमा हो उठा था. प्रातः से ही रुक-रुक कर हल्की बूंदाबांदी हो रही थी. आकाश काले बादलों से ढका हुआ था. धूप का कहीं नामोनिशान नहीं था.

मैं बहुत ख़ुश था. सुहावना और ख़ुशनुमा मौसम मेरी इस ख़ुशी का एक छोटा-सा कारण तो था लेकिन बड़ा और असली कारण कुछ और था. आज रंजना दिल्ली आ रही थी और मुझे उसे पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर रिसीव करने जाना था. इस ख़ुशगवार मौसम में रंजना के साथ की कल्पना ने मुझे भीतर तक रोमांचित किया हुआ था.

हल्की बूंदाबांदी के बावजूद मैं स्टेशन पर समय से पहले पहुंच गया था. रंजना देहरादून से जिस गाड़ी से आ रही थी, वह अपने निर्धारित समय से चालीस मिनट लेट चल रही थी. गाड़ी का लेट होना मेरे अंदर खीझ पैदा कर रहा था लेकिन रंजना की यादों ने इस चालीस-पैंतालीस मिनट के अंतराल का अहसास ही नहीं होने दिया.

परसों जब दफ़्तर में रंजना का फ़ोन आया तो सिर से पांव तक मेरे शरीर में ख़ुशी और आनंद की एक मिली-जुली लहर दौड़ गयी थी. फ़ोन पर उसने बताया था कि वह इस रविवार को मसूरी एक्सप्रेस से दिल्ली आ रही है और उसी दिन शाम चार बजे की ट्रेन लेकर कानपुर जाना है. बीच का समय वह मेरे संग गुज़ारना चाहती थी. उसने पूछा था- ''क्या तुम आओगे स्टेशन?''

''कैसी बात करती हो रंजना. तुम बुलाओ और मैं न आऊं, यह कैसे हो सकता है? मैं स्टेशन पर तुम्हारी प्रतीक्षा करता खड़ा मिलूंगा.''

फ़ोन पर रंजना से बात होने के बाद मैं जैसे हवा में उड़ने लगा था. बीच का एक दिन मुझसे काटना कठिन हो गया था. शनिवार की रात बिस्तर पर करवटें बदलते ही बीती.

क़रीब चारेक बरस पहले रंजना से मेरी पहली मुलाकात दिल्ली में ही हुई थी. एक परीक्षा केंद्र पर. हम दोनों एक नौकरी के लिए परीक्षा दे रहे थे. परीक्षा हॉल में हमारी सीटें साथ-साथ थीं. पहले दिन सरसरी तौर पर हुई हमारी बातचीत बढ़कर यहां तक पहुंची कि पूरी परीक्षा के दौरान हम साथ-साथ रहे, साथ-साथ हमने चाय पी, दोपहर का खाना भी मिलकर खाया. वह दिल्ली में अपने किसी रिश्तेदार के घर में ठहरी हुई थी. तीसरे दिन जब हमारी परीक्षा ख़त्म हुई तो रंजना ने कहा था- ''मैं पेपर्स की थकान मिटाना चाहती हूं अब. इसमें तुम मेरी मदद करो.''

पिछले तीन दिनों से परीक्षा के दौरान हम दिन भर साथ रहे थे. अब परीक्षा ख़त्म होने पर रंजना का साथ छूटने का दुख मुझे अंदर ही अंदर साल रहा था. मैंने रंजना की बात सुनकर पूछा- ''वह कैसे?''

''मैं दिल्ली अधिक घूमी नहीं हूं. कल दिल्ली घूमना चाहती हूं. परसों देहरादून लौट जाऊंगी.'' कहते हुए वह मेरे चेहरे की ओर कुछ पल देखती रही थी.

।। सुभाष नीरव ।।

मैं उसका आशय समझ गया था. उसके प्रस्ताव पर मैं ख़ुश था लेकिन एक भय मेरे भीतर कुलबुलाने लगा था. बेकारी के दिन थे. घर से दिल्ली में आकर परीक्षा देने और यहां तीन दिन ठहरने लायक ही पैसों का इंतज़ाम करके आया था. मेरी जेब में बचे हुए पैसे मुझे रंजना के साथ पूरा दिन दिल्ली घूमने की इजाज़त नहीं देते थे.

''दिल्ली तो मैं भी पहली बार आया हूं. इस परीक्षा के सिलसिले में. घूमना तो चाहता हूं पर.....''

''पर वर कुछ नहीं. कल हम दोनों दिल्ली घूमेंगे, बस.'' रंजना ने जैसे अंतिम निर्णय सुना दिया. परीक्षा केंद्र इंडिया गेट के पास था. वह बोली, ''कल सुबह नौ बजे तुम यहीं मिलना.''

यूं तो मुझे परीक्षा समाप्त होते ही गांव के लिए लौट जाना था, पर रंजना की बात ने मुझे एक दिन और दिल्ली में रुकने के लिए मजबूर कर दिया. मैं पहाड़गंज के एक छोटे-से होटल में एक सस्ता सा कमरा लेकर ठहरा हुआ था. जेब में बचे हुए पैसों का मैंने हिसाब लगाया तो पाया कि कमरे का किराया देकर और वापसी

की ट-ेन का किराया निकाल कर जो पैसे बचते थे, उसमें रंजना को दिल्ली घुमाना कतई संभव नहीं था. बहुत देर तक मैं ऊहापोह में घिरा रहा था- गांव लौट जाऊं या फिर.... रंजना की देह गंध मुझे खींच रही थी. मुझे रुकने को विवश कर रही थी. और जेब थी कि गांव लौट जाने को कह रही थी.

फिर मैंने एक फैसला किया. रुक जाने का फैसला. इसके लिए मुझे गले में पहनी सोने की पतली-सी चेन, अपनी जेब कट जाने का बहाना बनाकर पहाड़गंज में बेचनी पड़ी थी. यह चेन मां ने मुझे अपनी सोने की एक चूड़ी तुड़वाकर बनवा कर दी थी. मां और बापू को बताने के लिए मैंने एक बहाना गढ़ लिया था कि शहर में भीड़भाड़ में आते-जाते किसी ने साफ़ कर दी या कहीं गिर गयी. यह कैसा आकर्षण था? रंजना और मेरी मुलाकात अभी थी ही कितने दिन की? मात्र तीन दिन ही तो हम मिले थे. पर कुछ था मेरे अंदर कि मैं यह सब कुछ करने को तैयार हो उठा.

अगले दिन मैं समय से निश्चित जगह पर पहुंच गया था. रंजना भी समय से आ गयी थी. वह बहुत सुंदर लग रही थी. उसका सूट उस पर ख़ूब फब रहा था. उसके चेहरे पर उत्साह और उमंग की एक तितली नाच रही थी. एकाएक मेरा ध्यान अपने कपड़ों की ओर चला गया. मैं घर से दो जोड़ी कपड़े लेकर ही चला था. मेरी पैंट-कमीज़ और जूते साधारण-से थे. मन में एक हीन भावना रह रह कर सिर उठा रही थी. मेरे चेहरे को पढ़ते हुए रंजना ने कहा था, ''तुम कुछ मायूस-सा लगते हो. लगता है, तुम्हें मेरे संग दिल्ली घूमना अच्छा नहीं लग रहा.''

''नहीं, रजना. ऐसी बात नहीं.'' मेरे मुंह से बस इतना ही निकला था.

हम दोनों ने उस दिन इंडिया गेट, पुराना किला, चिड़िया घर, कुतुब मीनार की सैर की. दोपहर में एक ढाबे पर भोजन किया. सारे समय हंसती-खिलखिलाती रंजना का साथ मेरे तन-मन को गुदगुदाता रहा था.

साल भर बाद इंटरव्यू के सिलसिले में हम फिर मिले थे. हम फिर पूरा एक दिन दिल्ली की सड़कों पर घूमते रहे थे. इसी दौरान रंजना ने बताया कि उसके बड़े भाई यहां दिल्ली में एक्साइज़ विभाग में डेपूटेशन पर आनेवाले हैं. उसने मुझे उनका पता देते हुए कहा था कि मैं उनसे अवश्य मिलूं.

कुछ महीनों बाद मुझे दिल्ली में भारत सरकार के एक मंत्रालय में नौकरी मिल गयी. मैं रंजना के बड़े भाई साहब से उनके ऑफिस में जाकर मिला था. वह बड़ी गर्मजोशी से मुझसे मिले थे. उनसे ही

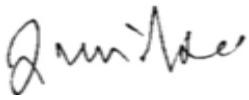

२७ दिसंबर १९५३, मुरादनगर (उ.प्र.);
स्नातक, मेरठ विश्वविद्यालय

प्रकाशित कृतियां : 'यत्कचित', 'रोशनी की लकीर' (कविता संग्रह); 'दैत्य तथा अन्य कहानियां', 'औरत होने का गुनाह', 'आख़िरी पड़ाव का दुःख' (कहानी संग्रह); 'कथाबिंदु' (लघुकथा-संग्रह);, 'मेहनत की रोटी' (बाल कहानी-संग्रह),लगभग १२ पुस्तकों का पंजाबी से हिंदी में अनुवाद, जिनमें 'काला दौर', 'कथा-पंजाब-२' कुलवंत सिंह विर्क की चुनिंदा पंजाबी कहानियां, 'पंजाबी की चर्चित लघुकथाएं', 'तुम नहीं समझ सकते' (जिन्दर का कहानी संग्रह), 'छांग्या रुक्श' (बलबीर माधोपुरी की दलित आत्मकथा) और 'रेत' (हरजीत अटवाल का उपन्यास) प्रमुख हैं. संपादन अनियतकालीन पत्रिका 'प्रयास' और मासिक 'मचान'.

ब्लॉग्स : सेतु साहित्य (उत्कृष्ट अनूदित साहित्य की नेट पत्रिका); वाटिका (समकालीन कविताओं की ब्लॉग पत्रिका); साहित्य सृजन (साहित्य, विचार और संस्कृति का संवाहक), गवाक्ष (हिंदी-पंजाबी के समकालीन प्रवासी साहित्य की प्रस्तुति); सृजन यात्रा (सुभाष नीरव की रचनाओं का सफ़र.)

पुरस्कार/ सम्मानः हिंदी में लघुकथा लेखन के साथ-साथ पंजाबी-हिंदी लघुकथाओं के श्रेष्ठ अनुवाद के लिए 'माता शरबती देवी स्मृति पुरस्कार, १९९०' तथा 'मंच पुरस्कार, २०००' से सम्मानित.

संप्रति : भारत सरकार के पोत परिवहन मंत्रालय में अनुभाग अधिकारी (प्रशासन)

पता चला कि नौकरी की ऑफर तो रंजना को भी आयी थी, पर इस दौरान देहरादून के केंद्रीय विद्यालय में बतौर अध्यापक नियुक्ति हो जाने के कारण उसने दिल्ली की नौकरी छोड़ दी थी. मैं उन्हें अपने ऑफिस का फोन नंबर देकर लौट आया था. मुझे रंजना का दिल्ली में नौकरी न करना अच्छा नहीं लगा था. फिर भी, मुझे उम्मीद थी कि रंजना से मेरी मुलाकात अवश्य होगी. कुछ माह बाद रंजना के बड़े भाई साहब दिल्ली से चंडीगढ़ स्थानांतरित हो गये. अब रही-सही उम्मीद भी जाती रही. लेकिन, परसों जब अचानक रंजना का फ़ोन आया तो मेरी उम्मीद जैसे ज़िंदा हो उठी.

ट्रेन शोर मचाती हुई प्लेटफॉर्म पर लगी तो मैं अपनी यादों के समंदर से बाहर निकला. रंजना ने मुझे प्लेटफॉर्म पर खड़ा देख लिया था. ट्रेन से उतरकर वह मेरी ओर बढ़ी. आज वह पहले से अधिक सुंदर लग रही थी. सेहत भी उसकी अच्छी हो गयी थी. सामान के नाम पर उसके पास एक बड़ी-सी अटैची थी और कंधे पर लटकता एक छोटा-सा काला बैग. उसने कुली को आवाज़ दी. मैंने कहा, ''कुली की क्या ज़रूरत है. तेरे पास एक ही तो अटैची है. मैं उठा लूंगा.'' और मैंने अटैची पकड़ ली थी.

प्लेटफॉर्म पर चलते हुए रंजना ने कहा,''मनीष, मेरे पास चार-पांच घंटों का समय है. कानपुर जानेवाली शाम चार बजे वाली गाड़ी का मैंने रिजर्वेशन करा रखा है. ऐसा करती हूं, सामान मैं यहीं क्लॉक रूम में रखवा देती हूं और रिटायरिंग रूम में फ्रेश हो लेती हूं... फिर चलते हैं, ठीक.''

मुझे रंजना का यह प्रस्ताव अच्छा लगा. मैं जहां रह रहा था, वह जगह स्टेशन से काफ़ी दूर थी, वहां आने-जाने में ही दो घंटे बर्बाद हो जाने थे. रिटायरिंग रूम में फ्रेश होने के बाद रंजना ने अटैची को क्लॉक रूम में रखवाया और फिर हम दोनों स्टेशन से बाहर निकले. सवा ग्यारह बज रहे थे. मैंने पूछा- ''किधर चलें?''

''मनीष, मुझे कुछ ज़रूरी शॉपिंग करनी है पहले.''

''ठीक है... कहां चलना है?''

''करोल बाग चलते हैं.'' रंजना जैसे पहले से ही तय करके आयी थी.

मैंने एक ऑटो वाले से बात की और हम करोल बाग के लिए चल दिये. ऑटो में सट कर बैठी रंजना की देहगंध मुझे दीवाना बना रही थी. मैंने चुटकी ली, ''पहले से कुछ मुटिया गयी हो. टीचर की नौकरी लगता है, रास आ गयी है.''

''तुम्हें मैं मोटी नज़र आ रही हूं?'' रंजना ने आंखें तरेरते हुए मेरी ओर देखकर कहा.

''मोटी न सही, पर पहले से सेहत अच्छी हो गयी है. और सुंदर भी हो गयी हो.''

''अच्छा ! पहले मैं सुदंर न थी?''

''मैंने यह कब कहा?''

''अच्छा बताओ, तुम्हें मेरी याद आती थी?'' हवा से चेहरे पर आये अपने बालों को हाथ से पीछे करते हुए रंजना ने पूछा.

''बहुत, मैं तो तुम्हें भूला ही नहीं.''

''अच्छा!'' इस बार रंजना की मुस्कराहट में उसके मोती जैसे दांतों का लश्कारा भी शामिल था.

''तुमने दिल्ली वाली नौकरी की ऑफर क्यों ठुकरायी? यहां होतीं तो हम रोज़ मिला करते.''

''दरअसल मुझे दफ़्तर की दिन भर की नौकरी से टीचर की नौकरी बहुत पसंद है. इसलिए जब अवसर मिला, वह भी केंद्रीय विद्यालय की तो मैं उसे ठुकरा न सकी.''

तभी, ऑटो वाले ने करोलबाग के एक बाज़ार में ऑटो रोक दिया. हम उतर गये. ऑटो वाले को रंजना पैसे देने लगी तो मैंने रोक दिया. पैसे देकर हम दोनों बाज़ार में घूमने लगे. रंजना कई दुकानों के अंदर गयी. सामान उलट-पुलट कर देखती रही. कीमतें पूछती रही. भाव बनाती रही. उसे देखकर मुझे लगा, रंजना को शॉपिंग का अच्छा तजुर्बा हो जैसे. हमें बाज़ार में घूमते एक घंटे से ऊपर हो चुका था लेकिन रंजना ने अभी तक कुछ भी नहीं ख़रीदा था. मैंने पूछा,''रंजना, तुम्हें लेना क्या है?''

उसने मेरी ओर देखा और हल्का-सा मुस्करा दी. फिर, वह उसी दुकान में जा घुसी जहां हम सबसे पहले गये थे. वह कपड़ों की दुकान थी. काफी देर बाद उसने दो रेडीमेड सूट ख़रीदे. पैसे देने लगी तो मैंने उसे रोक दिया. थोड़ी न-नुकर के बाद वह मान गयी. मैंने पैसे दिये और सूट वाले थैले पकड़ लिये. फिर वह एक और दुकान में गयी और तुरंत ही बाहर निकल गयी. वह मुझे बाजू से पकड़कर खींचती हुई-सी आगे बढ़ी और एक दूसरी दुकान में जा घुसी. उसने दो साड़ियां पसंद कीं. इस बार उसने अपना बटुआ नहीं खोला. साड़ियां कीमती थीं, मैंने पैसे अदा किये और हम दुकान से बाहर आ गये. बाहर निकलकर वह बोली, ''शॉपिंग करना कोई आसान काम नहीं.''

फिर वह फुटपाथ पर लगी दुकानों पर झुमके, बालियां और नेल-पॉलिश देखने लगी. पूरा बाज़ार घूम कर उसने दो-चार चीज़ें ख़रीदीं. मैंने घड़ी की तरफ देखा- दो बजने वाले थे.

''मनीष, मुझे जूती ख़रीदनी है.'' रंजना के कहने पर मैं उसे जूतियां वाले बाज़ार में ले गया. थैले उठाये मैं उसके पीछे-

पीछे एक दुकान से दूसरी, दूसरी से तीसरी और तीसरी से चौथी दुकान घूमता रहा.

रंजना के संग घूमना हालांकि मुझे अच्छा लग रहा था पर मैं एकांत में बैठकर उसके साथ बातें भी करना चाहता था. रंजना को लेकर जो स्वप्न मैंने देखे थे, उनके बारे में मैं उसे बताना चाहता था. मैंने सोचा था, रंजना घंटा, डेढ़-घंटा शॉपिंग करेगी, फिर हम किसी रेस्तरां में बैठकर लंच के साथ-साथ कुछ बातें भी शेयर करेंगे. समय मिला तो किसी पार्क में भी बैठेंगे. पर मेरी यह इच्छा पूरी होती नज़र नहीं आ रही थी.

रंजना तीन बजे तक सैंडिल ही पसंद करती रही. सैंडिल लेकर जब हम सड़क पर आये तो उसे जैसे एकाएक कुछ याद हो आया. वह रुक कर बोली, ''मनीष, एक चीज़ तो रह रही गयी.''

''क्या?'' सामान उठाये मैंने पूछा.

मेरे चेहरे पर आयी खीझ को जैसे उसने पढ़ लिया था, बोली, ''बस, आख़िरी आइटम..... छोटी-सी एक अटैची या बैग लेना है.''

मैं कुछ न बोला. चुपचाप उसके पीछे-पीछे चलने लगा.

मुझे जोरों की भूख लगी हुई थी. मैंने पूछा,''रंजना, तुम्हें भूख नहीं लगी? कुछ खा लेते हैं कहीं बैठ कर.''

उसने पहली बार अपनी कलाई पर बंधी घड़ी की ओर देखा था और समय देखकर हड़बड़ा उठी थी.

''नहीं-नहीं, मनीष. देर हो जायेगी. तीन बीस हो रहे हैं. चार बजे की ट्रेन है. अब ऑटो लो और चलो यहां से.''

ऑटो कर जब हम स्टेशन पहुंचे पौने चार हो रहे थे. उसने फटाफट क्लॉक रूम से अपनी अटैची ली. छोटा-छोटा सामान अपने हाथों में लेकर बोली, ''जल्दी करो, मनीष. कहीं गाड़ी न छूट जाय.''

ट्रेन प्लेटफॉर्म नंबर तीन पर लगी हुई थी. सामान उठाये मैं रंजना के पीछे-पीछे सीढ़ियां चढ़ने लगा. मेरी सांस फूल रही थी. एक बार मन हुआ, कुली को बुला लूं. लेकिन दूसरे ही क्षण अपने इस इरादे को रद्द करके मैं रंजना के पीछे-पीछे चलता रहा. लगभग दौड़ते हुए रंजना ने अपना कोच ढूंढ़ा. यह एक टू-टायर डिब्बा था. मैंने उसके सारे सामान को उसकी सीट पर और सीट के नीचे व्यवस्थित करके रख दिया था. खिड़की के पास बैठ कर अब वह रूमाल से अपने माथे का पसीना पोंछ रही थी. ट्रेन छूटने में कुछ मिनट ही बाकी थे.

मैं डिब्बे से नीचे उतरा और रंजना के लिए पानी की बोतल लेने दौड़ा. पानी की बोतल लेकर लौटा तो देखा - प्लेटफॉर्म पर खड़ा एक युवक खिड़की के पास बैठी रंजना से बातें कर रहा था. दोनों की पीठ मेरी ओर थी. उनके बीच होते वार्तालाप ने मेरे क़दम जहां के तहां रोक दिये.

''मुझे पहचाना? मैं राकेश का दोस्त, कमल. राकेश जब आपके घर आपको देखने गया था, मैं उसके साथ था.''

''ओह आप!''

''मैं लखनऊ जा रहा हूं. पिछले डिब्बे में मेरी सीट है. मैंने आपको डिब्बे में चढ़ते देख लिया था. आप किधर जा रही हैं?''

''कानपुर.''

''कौन रहता है वहां?''

''मेरी मौसी का घर है कानपुर में. उनकी बेटी का विवाह है. मेरे घर वाले बाद में आयेंगे, मैं कुछ पहले जा रही हूं.''

''वह कौन है जो आपके साथ आया है?''

''वो.....वो तो बड़े भाई साहब का कोई परिचित है. यहीं दिल्ली में नौकरी करता है. भाई साहब ने फ़ोन कर दिया था. बेचारा सुबह से मेरे संग कुलियों की तरह घूम रहा है.''

मेरे अंदर जैसे कुछ कांच की तरह टूटा था. कहां मैं अपनी दोस्ती को रिश्ते में बदलने के सपने देख रहा था और कहां रंजना ने मुझे दोस्ती के योग्य भी नहीं समझा.

सिगनल हो गया था. वह युवक अपने डिब्बे में चला गया था. मैंने आगे बढ़कर खिड़की से ही पानी की बोतल रंजना को थमायी और धीमे स्वर में पूछा,''कौन था?''

''मेरे मंगेतर का दोस्त.'' रंजना ने मुस्कराते हुए बताया ही था कि ट्रेन आगे सरकने लगी. रंजना हाथ हिलाकर बाय-बाय करने लगी. आगे बढ़ती ट्रेन के साथ मैं कुछ दूर तक दौड़ना चाहता था, पर न जाने मेरे पैरों को क्या हो गया था. वे जैसे प्लेटफॉर्म से ही चिपक गये थे.मैं जहां खड़ा था, वहीं खड़ा रह गया - जड़वत.

धीमे-धीमे गाड़ी रफ़्तार पकड़ती गयी. मेरे और रंजना के बीच का फासला लगातार बढ़ता चला गया. देखते-देखते रंजना एक बिंदु में तबदील हो कर एकाएक अदृश्य हो गयी.

मैं भारी क़दमों से स्टेशन से बाहर निकला. मुझे बेहद गरमी महसूस हुई. इस मौसम को न जाने अचानक क्या हो गया था. सबेरे तो अच्छा-भला और ख़ुशनुमा था, पर अब आग बरसा रहा था. क्या वाकई मौसम गरम था या मेरे अंदर जो आग मच रही थी, यह उसकी सेंक थीं?

३७२, टाइप-४, लक्ष्मीबाई नगर,
नयी दिल्ली- ११००२३
फोन : २४१०४९१२ ,९८१०५३४३७३ (मो.)
ईमेल- subhashneerav@gmail.com

आमने/सामने

'लिखना ही मेरे लिए एक सामाजिक कार्य है!'

सुभाष नीरव

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, आमने-सामने. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो.कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ.बटरोही, राजेश जैन, डॉ.अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ.हरिमोहन, डॉ.दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ.अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ.फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ.कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ.गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं.किरण मिश्र, डॉ.तेज सिंह, डॉ.देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ.उर्मिला शिरीष, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रज़ाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर रवांल्टा, गोवर्धन यादव, डॉ.विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी , राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान 'बातिश', डॉ. शिव ओम 'अंबर' और कृष्ण सुकुमार से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है सुभाष नीरव की आत्मरचना.

यूं तो पाठक किसी लेखक को उसकी रचनाओं से ही जानते-समझते हैं, फिर भी उनके अंदर लेखक के 'निज' को भी जानने-समझने की एक ललक हुआ करती है, उसके निजी जीवन में झांकना उन्हें अच्छा लगता है. शायद यही कारण है कि लेखकों की आत्मकथाएं पाठकों द्वारा ख़ूब पसंद की जाती हैं. 'कथाबिंब' के चर्चित स्तंभ 'आमने-सामने' के माध्यम से मैं अगर आज अपने जीवन और लेखन से जुड़े कई छुये-अनछुये पहुलओं को पाठकों के साथ शेयर कर रहा हूं, तो निःसंदेह इसका श्रेय 'कथाबिंब' के संपादक डॉ. अरविंद जी और मेरे परम मित्र डॉ. रूपसिंह चंदेल को जाता है जो मुझे इस ओर निरंतर प्रेरित और स्पंदित करते रहे कि मैं अपना आत्मकथ्य लिखूं और उसे अपने पाठकों से शेयर करूं. न जाने क्यों मुझे यह भय निरंतर सताता रहा कि कहीं मेरा 'आत्मकथ्य' एक 'आत्मालाप' न बन जाये.

मेरा जन्म एक बेहद ग़रीब पंजाबी परिवार में हुआ जो सन १९४७ के भारत-पाक विभाजन में अपना सब कुछ पाकिस्तान में गंवा कर, तन और मन पर गहरे ज़ख़्म लेकर, आश्रय और रोज़ी रोटी की तलाश में पश्चिम उत्तर प्रदेश के एक बहुत छोटे से नगर - मुराद नगर- में आ बसा था. इस लुटे-पिटे परिवार में मेरी मां, मेरे पिता, मेरे दादा, मेरी नानी और मेरे चाचा थे. उन दिनों मुराद नगर स्थित आर्डिनेस फैक्टरी में लेबर की भर्ती हो रही थी और मेरे पिता को यहां एक लेबर के रूप में नौकरी मिल गयी थी, साथ में रहने को छोटा-सा मकान भी. डेढ़-दो वर्ष बाद चाचा को भी इसी फैक्टरी में नौकरी मिल गयी तो विवाह के बाद वह पिता से अलग रहने लगे. दौड़-धूप करने पर चाचा को हमारे मकान से सटा मकान रहने के लिए मिल गया था.

प्रारंभ में लेखन के लिए बीज हमें हमारे जीवन की घटनाओं से ही मिलते हैं और उन्हें अंकुरित-पल्लवित करने में हमारे आसपास का परिवेश और स्थितियां सहायक बनती हैं, ऐसा मेरा मानना है. इसलिए यहां अपने जीवन की उन पारिवारिक स्थितियों-परिस्थितियों का उल्लेख कर लेना मुझे बेहद आवश्यक और प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है जिनकी वजह से मेरे अंदर लेखन के बीज पनपे और जिन्होंने मुझे क़लम पकड़ने के लिए प्रेरित किया. मुझे अपने लेखन के बिलकुल शुरुआती दिन स्मरण हो रहे हैं जब मैं अपने अतीत को खंगालने की कोशिश करता हूं तो स्मृतियों-

विस्मृतियों के बीच झूलते वे दिन मेरी आंखों के आगे आ जाते हैं जब मैं इंटर कर चुकने के बाद एक असह्य अकेलेपन के साथ-साथ भीषण बेकारी के दंश को झेल रहा था और इस दंश से मुक्ति की राह मैं साहित्य में ढूंढ़ा करता था. साहित्यिक पत्रिकाएं और पुस्तकें मुझे इस दंश से, भले ही कुछ देर के लिए, मुक्ति दिलाती थीं. कहानी, उपन्यासों के पात्र मेरे साथी बन जाते थे और कई बार कोई पात्र तो मुझे बिलकुल अपने सरीखा लगता था. मुझे लेखन विरासत में नहीं मिला. जिस ग़रीब मज़दूर परिवार में मैं पला-बढ़ा, उसमें दूर-दूर तक न तो कोई साहित्यिक अभिरुचि वाला व्यक्ति था न ही आसपास ऐसा कोई वातावरण था. पिता फ़ैक्टरी में बारह घंटे लोहे से कुश्ती किया करते थे. फ़ैक्टरी की ओर से रहने के लिए उन्हें जो मकान मिला हुआ था, वहां आसपास पूरे ब्लॉक में विभिन्न जातियों के बेहद ग़रीब मज़दूर अपने परिवार के संग रहा करते थे, जिनमें पंजाबी, सफाई कर्मचारी, मुसलमान, पूरबिये, जुलाहे आदि प्रमुख थे. एक ब्लॉक में आगे-पीछे कुल १८ क्वार्टर होते थे- नौ आगे, नौ पीछे. दोनों तरफ़ ब्लॉक के बीचोंबीच एक सार्वजनिक नल होता था जहां सुबह-शाम पानी के लिए धमाचौकड़ी मची रहती थी. झगड़े होते थे, एक दूसरे की बाल्टियां टकराती थीं. जहां औरतों में सुबह-शाम कभी पानी को लेकर, कभी बच्चों को लेकर झगड़े हुआ करते थे, हाथापाई तक हुआ करती थी. ऊंचे-लंबे लोहे के खंभों पर लटकते बल्ब शाम होते ही सड़क पर पीली रोशनी फेंकने लगते थे. मुझे अपनी पढ़ाई-लिखाई मिट्टी के तेल के लैंप की रोशनी में करनी पड़ती थी या फिर घर के पास सड़क के किनारेवाले किसी बिजली के खंभे के नीचे चारपाई बिछाकर, उसकी पीली मद्धिम रोशनी में अपना होमवर्क पूरा करना पड़ता था.

घर में तीन बहनें, तीन भाई, पिता, अम्मा के अलावा नानी भी थीं. नानी के चूंकि कोई बेटा नहीं था, भारत-पाक विभाजन के बाद, वह आरंभ में तो बारी-बारी से अपने तीनों दामादों के पास रहा करती थीं, पर बाद में स्थायी तौर पर अपने सबसे छोटे दामाद यानी मेरे पिता के पास ही रहने लगी थीं. वह बाहर वाले छोटे कमरे जो रसोई का भी काम करता था, में रहा करती थीं. दरअसल, यह कमरा नहीं, छोटा-सा बरामदा था जो पांच फीट ऊंची दीवार से ढका हुआ था. इसमें लकड़ी का जंगला था जो आने-जाने के लिए द्वार का काम करता था. ठंड के दिनों में दीवार के ऊपर की ख़ाली जगह और जंगले को टाट-बोरियों से ढक दिया जाता था. यह बरामदा-नुमा कमरा बहुद्देशीय था. नानी का बिस्तर-चारपाई, रसोई का सामान, आलतू-फ़ालतू सामान के लिए टांट आदि को अपने में समोये हुए तो था ही, अक्सर घर की स्त्रियां इसे ग़ुसलख़ाने के रूप में भी इस्तेमाल किया करती थीं. नानी, मां या बहनों को जब नहाना होता तो घर के पुरुष घर से बाहर निकल जाते और टाट और बोरियों के पर्दे गिरा कर वे जल्दी-जल्दी नहा लिया करतीं. जब तक नानी की देह में जान थी, हाथ-पैर चलते थे, वह फैक्टरी के साहबों के घरों में झाड़ू-पौचा, बर्तन मांजना, बच्चों की देखभाल आदि का काम किया करती थीं और अपने गुज़ारे लायक कमा लेती थीं. बाद में, जब शरीर नाकारा होने लगा तो उन्होंने काम करना छोड़ दिया और वह पूरी तरह अपने दामाद और बेटी पर आश्रित हो गयीं. दादा भी थे पर वह साथ वाले घर में हमारे चाचा के संग रहते थे. घर में मुझसे बड़ी एक बहन थी और मुझसे छोटी दो बहनें और दो भाई. सस्ती के उन दिनों में भी पिता अपनी सीमित आय में घर का बमुश्किल गुज़ारा कर पाते थे. उनकी स्थिति उन दिनों और अधिक पतली हो जाती जब फैक्टरी में 'ओवर टाइम' बंद हो जाता. कई बार तो शाम को चूल्हा भी न जलता था. पिता घर से छह-सात मील दूर क़स्बे की जिस लाला की दुकान से हर माह घर का राशन उधार में लेकर डाला करते थे, ऐसे दिनों में वह भी गेहूं-चावल देने से इंकार कर दिया करता था. ओवर टाइम बंद हो जाने पर पिता पिछले माह का पूरा उधार चुकता करने की स्थिति में न होते, वे आधा उधार ही चुकता कर पाते थे. घर में कई बार शाम को चावल ही पकता और उसका मांड़ निकाल कर रख लिया जाता और कुछ न होने पर उसी ठंडे मांड़ में गुड़ की डली मिलाकर हम लोग पिया करते और अपनी क्षुधा को जबरन शांत करने का प्रयास किया करते थे. मां, घर के बाहर बने बाड़े में से चौलाई का साग तोड़ लातीं और उसमें दो आलू काटकर सब्जी बनातीं. सन १९६२ में भारत-चीन युद्ध के दौरान जब गेंहू-चावल का भयंकर अकाल पड़ा तो हमने जों-बाजरे की बिना चुपड़ी रोटियां भी खायीं जिन्हें गरम-गरम ही खाया जा सकता था, ठंडी हो जाने पर वे पत्थर-सी सख़्त हो जातीं और उन्हें चबाते-चबाते हमारे मुंह दुखने लगते.

ऐसे में पिता जो पूरे परिवार की गाड़ी किसी प्रकार खींच रहे थे, की नज़रें मुझ पर टिक गयी थीं. वे चाहते थे कि मैं हाई-स्कूल करने के बाद कोई काम-धंधा या नौकरी देखूं ताकि उन्हें कुछ सहारा मिल सके. उधर उन्हें जवान होती बेटियों के विवाह की चिंता भी खाये जा रही थी. वे चाहते थे कि किसी तरह सबसे बड़ी बेटी की शादी कर दें. एक दिन बड़ी बहन को लेकर घर में

जबरदस्त हंगामा हुआ. पिता पागलों की भांति चीख़ने-चिल्लाने लगे. अगले रोज़ उन्होंने उसकी पढ़ाई छुड़वा दी. तुरत-फुरत लड़का देखा और कर्ज़ा पकड़कर उसका ब्याह कर दिया. बड़ी बेटी का विवाह कर वह क़र्ज़े में इतना दब गये कि उनकी हालत दिन-ब-दिन ख़राब होती चली गयी. अंदर-बाहर से टूटते पिता शरीर से कमज़ोर होते चले गये. पिता की दयनीय हालत पर मुझे बेहद तरस आता और मैं सोचता कि पढ़ाई में क्या रखा है, मैं भी किसी फ़ैक्टरी, कारखाने में लग जाऊं और कुछ कमा कर पिता के सिर का बोझ हल्का करूं.

लेकिन मुझे किताबों से बहुत प्रेम था. भले ही वे पाठ्यक्रम की पुस्तकें थीं. नयी किताबों के वर्क़ों से उठती महक मुझे दीवाना बना देती थी. हाईस्कूल की बोर्ड की परीक्षा देने के बाद मैं एक दिन घर से भाग निकला और अपनी बड़ी बहन जो दिल्ली में ब्याही थी और मोहम्मद पुर गांव में एक किराये के मकान में रहती थी, के पास जा पहुंचा. मेरे जीजा ठेकेदार थे और सरकारी इमारतों की मरम्मत, सफ़ेदी आदि के छोटे-मोटे ठेके लिया करते थे. मुझे अकस्मात् अकेले आया देख वे हतप्रभ थे. पिता चूंकि मुझे आगे पढ़ाना नहीं चाहते थे, इसलिए मैंने जीजा से कहा कि वह मुझे कहीं भी छोटे-मोटे काम पर लगवा दें. भले ही मज़दूर के रूप में अपने पास ही रख लें. मुझे पूरी उम्मीद थी कि मैं बोर्ड की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊंगा क्योंकि मेरे पेपर्स अच्छे गये थे. मैं चाहता था कि जब परीक्षा परिणाम निकले तो मेरे पास कम से कम इतने पैसे अवश्य हों कि मैं आगे दाख़िला ले सकूं. मेरे जीजा ने मुझे नॉर्थ ब्लॉक में कह-सुनकर डेलीवेजर के रूप में लगवा दिया - साढ़े तीन रुपये दिहाड़ी पर. सन् १९७० की गर्मियों के दिन थे. मुझे वाटर कूलरों में पानी भरने पर लगा दिया था. उन दिनों वहां पाइप से कूलरों में पानी नहीं भरा जाता था. हर डेलीवेजर को दो-दो बाल्टियां इशू होती थीं. उन्हें नल से भरकर हमें कूलरों में सुबह-शाम पानी भरना पड़ता था. बीच के वक़्त हमसे दूसरा काम लिया जाता जैसे कमरों की साफ़-सफ़ाई का, सामान इधर-उधर करने का, चपरासीगिरी का. कभी-कभी किसी साहब के घर का काम करने के लिए भी भेज दिया जाता. साहबों की बीवियां हम पर इस तरह रौब झाड़तीं जैसे हम उनके ज़रख़रीद गुलाम हों. वे हमसे लैट-ीन-बाथ रूम साफ़ करवातीं, पूरे घर में पौचा लगवातीं और बर्तन मंजवातीं. हम जानते थे कि विरोध करने का अर्थ है अस्थायी नौकरी से हाथ धोना. इस सबके बावज़ूद छुट्टी के दिन हम लोग ड्यूटी लगवा लेते थे ताकि कुछ पैसे और बन सकें. मैंने वहां दो-ढ़ाई माह काम किया. माह के अंत में जो रुपये मुझे मिलते, मैं उन्हें बहन को दे दिया करता. आने-जाने का किराया वही दिया करती थी. जीजा प्रायः सायकिल से काम पर जाया करते थे. मैं बस पकड़कर आता-जाता था. उन दिनों दिल्ली में डी टी यू की बसें चला करती थीं और किराया होता था - पांच, दस, पंद्रह और बीस पैसे. जिस दिन शाम की बस पकड़ने के लिए मेरे पास पैसे न होते, मैं पैदल ही केंद्रीय सचिवालय से मोहम्मदपुर जाया करता. आरंभ में मुझे शॉर्टकट रास्ता मालूम न था. मैं पैदल उधर से ही घर जाता जिधर से बस होकर जाया करती थी. जब मैं घर पहुंचता तो मेरे पांव दर्द से बिलबिलाने लगते. कभी-कभी तो सूज भी जाते. पर मैं बहन और जीजा को कुछ न बतलाता और ऑफिस में काम ज़्यादा होने का बहाना बनाकर सो जाता.

जब दसवीं की बोर्ड की परीक्षा का परिणाम अख़बार में निकला, मेरी ख़ुशी का ठिकाना नहीं था. मैं गुड सेकेंड डिवीज़न से पास गया था. मैंने आगे काम करने से इंकार कर दिया और बहन से अपने रुपये लेकर सीधा मोदी इंटर कॉलेज, मोदी नगर में दाख़िला लेने चला गया. मेरा दाख़िला भी हो गया. घर में सब ख़ुश थे पर पिता ख़ुश नहीं थे. बाद में लोगों के समझाने-बुझाने पर वह मान गये. इंटर करने तक के वे दो साल बड़े कष्टप्रद रहे. मैं रेल का मासिक स्टुडेंट पास बनवाकर अपने कुछ मित्रों के संग कॉलेज जाया करता था. कई बार ट-ेन छूट जाती, मेरे पास बस से जाने के पैसे न होते और उस दिन मेरी छुट्टी हो जाती. अगले रोज़ कॉलेज में सज़ा मिलती. प्रिंसीपल बहुत सख़्त था, कुछ सुनता ही नहीं था. कॉलेज से नाम काट देने की धमकी देता था. दोपहर में साढ़े बारह बजे कॉलेज से छुट्टी होती. इसी समय की एक ट-ेन थी जिसे बहुत मुश्किल से हम पकड़ पाते. कॉलेज रेलवे लाइन की बग़ल में स्टेशन से दसेक मिनट की दूरी पर था. प्रायः ट-ेन दस-पंद्रह मिनट लेट हुआ करती थी, इसलिए मिल जाया करती थी. लेकिन जिस दिन सही समय पर आती, हमें अपने कॉलेज से ही दौड़ लगानी पड़ती. स्टेशन पहुंचते-पहुंचते हमारी सांसें फूल जातीं, शरीर पसीने से लथपथ हो जाता. कभी चलती ट-ेन में चढ़ने में कामयाब हो जाते, कभी वह छूट जाती. इसके बाद चार बजे की ट-ेन थी जो प्रायः लेट होती और उससे घर पहुंचते-पहुंचते शाम हो जाती. मित्र तो बस पकड़कर चले जाते, पर पैसे न होने के कारण मुझे वहीं स्टेशन पर समय बिताना पड़ता. मैं माल गोदाम में पड़े सामान के गट्ठरों पर बैठकर अपना होम वर्क करता और पढ़ा करता. कभी-कभी सुबह जल्दी में लंच बॉक्स छूट जाता तो दोपहर में भूख

के मारे बुरा हाल हो जाता. मित्र कभी अपना लंच शेयर करवाते, कभी नहीं. ऐसी स्थिति में यदि मेरे पास एक-दो रुपये हुआ करते तो मैं पचास पैसे के मिर्च वाले लाल चने लेकर खाया करता और ढ़ेर सारा पानी पीकर अपनी भूख को शांत करने की झूठी कोशिश किया करता.

सन् १९७२ में इंटर की परीक्षा पास की तो पिता ने हाथ खड़े कर दिये. वह आगे पढ़ाने के लिए अब क़तई तैयार नहीं थे. वे चाहते थे कि अब मैं कोई न कोई कामधंधा या नौकरी देखूं. इंटर में मेरे पास फिजिक्स, केमिस्ट-री और बॉयलोजी विषय थे. मेरे कुछ मित्रों ने पी एम टी के फ़ॉर्म भरे तो मैंने भी भर दिया, यह सोचकर कि पास तो होना नहीं है. अगर हो गया तो भी डॉक्टरी न कर पाऊंगा क्योंकि पिता के पास इतने पैसे ही नहीं है. वे तो पहले ही क़र्ज़ से दबे पड़े हैं और छोटी दो जवान होती बेटियों के विवाह की चिंता उन्हें रात-रात भर सोने नहीं देती. लेकिन मैं मेरठ पी एम टी में पास हो गया, मेरे मित्र भी पास हो गये थे. उन्होंने कॉलेज ज्वाइन भी कर लिया था. मगर मेरे परिवार की ग़रीबी और अभावों भरी मारक स्थितियों ने मेरे डॉक्टर बनने के स्वप्न का क़त्ल कर दिया. कई दिनों तक मैं इस पीड़ा से उबर नहीं पाया और फिर इसे नियति का फ़ैसला मानकर सब्र कर लिया. पिता और मेरा परिवार भी क्या करता. अगर उनके पास पूंजी होती तो क्या वे भी अपने बेटे को डॉक्टर बनता देख ख़ुश न होते? पर वे लाचार और विवश थे. कोई उनकी मदद करनेवाला नहीं था. रिश्तेदारी में क्या और बाहर क्या? वे दिन बड़े भयावह और संत्रास भरे थे. मेरे पास नौकरी के लिए आवेदन करने लायक पैसे नहीं होते थे. पिता की स्थिति बड़ी दयनीय थी. तनख़्वाह का सारा पैसा उधारी चुकाने में चला जाता था. घर में कभी-कभी फ़ाक़े जैसी हालत होती. मैंने आसपास की फ़ैक्टरियों में काम तलाशने की बहुत कोशिश की, पर कामयाब नहीं हो पाया. बग़ैर सिफ़ारिश के कोई रखता नहीं था. इन दिनों मैं बेकारी के भीषण दंश को झेल रहा था. मैं सारा-सारा दिन घर में पड़ा रहता. खाने-पीने को मन न करता. स्वयं को बेहद अकेला, असहाय और उदास महसूस करता. कई बार घर से भाग जाने की इच्छा होती. रात-रात भर नींद नहीं आती थी. किसी से बात करने को मन नहीं करता था. मेरा स्वभाव रूखा और चिड़चिड़ा हो गया था.

पिता घर को चलाने में आर्थिक मोर्चे पर लगातार परास्त होते जा रहे थे. उन्हें अब समझ में आने लगा था कि उनकी इस बदहाली का एक प्रमुख कारण उनका बड़ा परिवार है. छह बच्चों की जगह दो या तीन हुए होते तो ऐसी तंगी और बदहाली शायद न होती. वे कभी-कभी जब मां से लड़ते-झगड़ते तो अपने आप को कोसने लगते कि उन्होंने इस ओर क्यों नहीं ध्यान दिया. इन दिनों उन्होंने अपनी तंगी को पाटने के लिए एक रास्ता खोज निकाला. अब वे फैक्टरी में लंच के समय बीड़ी, सिगरेट, माचिस, तंबाकू, नमकीन और मूंगफली के पैकेट बेचने लगे थे. शुरू में उन्हें कुछ दिक्कत हुई, बाद में लोग ख़ुद आ-आकर उनसे सामान ख़रीदने लगे. मोहल्ले में जब आस-पड़ोस वालों को मालूम हुआ तो लोग घर पर भी आने लगे. कभी माचिस, कभी बीड़ी का बंडल, कभी नमकीन आदि ख़रीदने. घर पर पिता न होते तो मां या बहनें ये सामान दिया करतीं. मुझे, फैक्टरी में पिता द्वारा ये सब बेचने में कोई बुराई नज़र नहीं आती थी, पर इसका घर में भी शुरू हो जाना, मुझे बिलकुल पसंद न था. कोई भी अड़ोसी-पड़ोसी जिसमें मर्द और मोहल्ले के छोकरे अधिक हुआ करते, जब मन होता, मुंह उठाये सीधे हमारे घर में घुसे चले आते. मैं घर पर होता तो मुझे बेहद कोफ़्त होती.मैं उठकर कभी सामान न देता और ''नहीं है'' कह कर अक्सर उन्हें भगा दिया करता.

इंटर करते समय कॉलेज की लायब्रेरी में मुझे हिंदी पत्रिकाएं जैसे धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, कादंबिनी, नवनीत, सारिका, सरिता, मुक्ता आदि पढ़ने को मिल जाती थीं. लेकिन मुराद नगर में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी. ख़रीद कर मैं पढ़ नहीं सकता था. अख़बार पढ़ने के लिए घर से डेढ़-दो मील किसी चायवाले या पानवाले की दुकान पर जाना पड़ता. तभी मेरे एक मित्र ने मुझे आर्डिनेंस फैक्टरी की एक छोटी-सी लायब्रेरी जो नयी-नयी ख़ुली थी, का सदस्य बनवा दिया. वहां से साहित्यिक पुस्तकें इशू करवा कर मैं पढ़ने लगा था. हिंदी के नये पुराने कई लेखकों के उपन्यास, कहानी संग्रह, कविता संग्रह जो भी उस पुस्तकालय में उपलब्ध होते, मैंने पढ़ने आरंभ कर दिये थे. ये किताबें मुझे सुकून देती थीं. मैं इनमें खो जाता था. अपना अकेलापन, अपना दुख, अपनी पीड़ा, बेकारी का दंश भूल जाता था. यहीं मैंने प्रेमचंद को पूरा पढ़ा.

इन्हीं दिनों मैंने अनुभव किया कि मैं कवि होता जा रहा हूं. मैं अपने अकेलेपन के संत्रास को तुकबंदियों में उतारने लगा. ऐसा करने पर मुझे लगता कि मेरा दुख कुछ कम हो गया हो जैसे. उन अधपक्की, अधकचरी, कविताओं का रचयिता और पाठक मैं स्वयं ही था. मेरा बहुत मन होता कि कोई मेरी कविता सुने या पढ़े. इधर फ़ैक्टरी में ओवर टाइम लगना आरंभ हो गया था और पिता ने

मुझे जेब ख़र्च के लिए कुछ पैसे देने प्रारंभ कर दिये थे. उन पैसों से मैं नौकरी के लिए आवेदन पोस्ट करने लग पड़ा था. ढेरों इंटरव्यू और लिखित परीक्षाएं दीं, पर सफल नहीं हुआ. एक दिन मेरी क़िस्मत का बंद दरवाज़ा खुला. मेरा मेरठ कचेहरी में क्लर्क के पद के लिए चयन हो गया, पर मुझे पैनल में डाल दिया गया था. लगभग आठ-नौ महीने के बाद मेरी तैनाती ग़ाज़ियाबाद सिविल कोर्ट में हुई. मेरे ही नहीं, घर के सभी सदस्यों के पैर धरती पर नहीं पड़ रहे थे. पिता की आंखों में चमक आ गयी थी. मां ने घर में कीर्तन रखवा लिया था.

ग़ाज़ियाबाद मैं रेल से आता-जाता था. शाम को लौटते वक़्त ग़ाज़ियाबाद स्टेशन पर बुक स्टालों पर मैं पत्रिकाओं के पन्ने पलटने लगा था. मैं अब पत्रिकाओं के पते नोट करता और अपनी कच्ची-पक्की कविताओं को संपादकों को भेजा करता. फिर कई-कई दिन संपादकों के उत्तर की बेसब्री से प्रतीक्षा किया करता. पर मेरी हर रचना सखेद लौट आती थी. मन बेहद दुखी होता. लेकिन रचनाएं भेजना मैंने बंद नहीं किया. एक दिन दिल्ली प्रेस की पत्रिका 'मुक्ता' से मुझे जब स्वीकृति पत्र मिला तो मेरी ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा. मैं चाहता था कि मैं अपनी इस ख़ुशी को किसी के संग शेयर करूं. एक दो मित्रों से बात की पर उन्होंने कोई ख़ुशी ज़ाहिर नहीं की. धीरे-धीरे मेरी कविताएं 'सरिता', 'मुक्ता' में नियमित रूप से छपने लगीं. ये बड़ी रोमानी क़िस्म की कविताएं होती थीं. कलर पृष्ठों पर छपती थीं. मैं अपनी छपी हुई कविताओं को और उन कविताओं के साथ छपे युवतियों के रंगीन चित्र को देखकर मुग्ध होता रहता. मुझे लगता जैसे मैं देश का एक बड़ा कवि हो गया होऊं. 'सरिता-मुक्ता' में छपनेवाली रचनाओं का पारिश्रमिक भी मुझे मिलता था. उस पारिश्रमिक से मैं पत्र-पत्रिकाएं ख़रीदा करता. मुराद नगर के स्थानीय कवि जो मंचों पर कविताएं पढ़ा करते थे, अब मुझे जानने लगे थे. इनमें वेद प्रकाश 'सुमन' और जगदीश चंद्र शर्मा 'मंयक' प्रमुख थे. वे अक्सर मुझसे मिलते. अब मैं उनकी काव्य गोष्ठियों में जाने लगा था और अपनी कविताएं सुनाने लगा था. वे मेरी कविताओं की तारीफ़ किया करते. मुराद नगर में हर साल फैक्टरी की ओर से एक विशाल कवि सम्मेलन भी हुआ करता और उसमें देश के नामी-गिरामी कवि और स्थानीय कवि मंच पर कविता पढ़ते. कवियों को बुलाने और मंच संचालन का ज़िम्मा सुमन जी के हाथों में होता. मैं मंच व्यवस्था करने में उनकी मदद किया करता, कुर्सियां लगवाता, दरियां बिछवाता. वे मुझसे कहते कि मैं अपनी एक अच्छी-सी कविता तैयार रखूं मंच पर पढ़ने के लिए. मैं खोज-खोज कर अपनी कविताएं हाथ से लिखता, उन्हें कंठस्थ करता. आरंभ में एक-एक करके स्थानीय कवियों को वे पढ़वाते, जब कोई कवि कविता पढ़कर हटता, मुझे लगता सुमन जी अब मेरे नाम की घोषणा करेंगे. मैं सांस रोक कर बेसब्री से प्रतीक्षा करता रहता, पर मेरा नाम न पुकारा जाता. मुझे बड़ी कोफ़्त और पीड़ा होती. ग़ुस्सा भी आता. फिर मैंने उनकी काव्य गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों में जाना ही छोड़ दिया.

इन्हीं दिनों हम कुछ युवाओं ने मिलकर मुराद नगर में अपनी एक अलग संस्था बनायी- 'विविधा' नाम से. इसमें मेरे अलावा सुधीर गौतम, रूपसिंह चंदेल, सुधीर अज्ञात, संत राज सिंह और प्रेमचंद्र गर्ग प्रमुख थे. हम 'विविधा' की मासिक गोष्ठियां करते जिसमें हम अपनी नयी लिखी रचनाओं को सुनाते. 'विविधा' के अंतर्गत हमने 'सारिका' के कई महत्वपूर्ण अंकों पर भी गोष्ठियां कीं. एक बड़े पैमाने पर कविता गोष्ठी का आयोजन भी किया जिसमें नागार्जुन भी आये थे. उन्हें दिल्ली से मुराद नगर लाने का दायित्व मुझ पर था. मैं बहुत उत्साहित था. इतने बड़े कवि का सानिध्य मिल रहा था. जिस रविवार यह कार्यक्रम था, उसी रविवार को नवभारत टाइम्स के रविवारीय अंक में युवा जगत के अंतर्गत मेरे द्वारा आयोजित आधे पृष्ठ की एक परिचर्चा प्रकाशित हुई थी जिसका शीर्षक था- 'युवा पीढ़ी और आत्मघुटन.' मित्रों-दोस्तों में इसे लेकर चर्चा थी और वे मेरी प्रशंसा कर रहे थे. प्रशंसा सुन मैं जैसे हवा में उड़ने लगा था. मेरी इस हवा को शाम के वक़्त निकाला नागार्जुन जी ने. बड़े रूखे और कड़वे शब्दों में बोले - ''ये क्या है? इन सब ढ़कोसलों से तुम लेखक/कवि न बन पाओगे. कुछ मौलिक और अच्छा लिखने का प्रयास करो. अच्छा साहित्य पढ़ो.'' मैं जैसे आकाश से धरती पर आ गिरा था, परकटे पक्षी की तरह. यह बात नागार्जुन जी ने मुझे अकेले में कही होती तो कोई बात नहीं थी. तीस-चालीस स्थानीय लोगों की भीड़ में उन्होंने कहा था. मैंने अपने आप को बहुत अपमानित महसूस किया. उस रात और उससे अगली कई रातें मैं ठीक से सो नहीं पाया. लेकिन जल्द ही मुझे उनकी सलाह बहुत क़ीमती जान पड़ी. ये सन ७६ या ७७ के दिन रहे होंगे.

इन्हीं दिनों मैंने केंद्र सरकार में लिपिकों की भर्ती से संबंधित अखिल भारतीय स्तर पर होनेवाली परीक्षा दी थी जिसमें मैं उत्तीर्ण हो गया था और मेरी नियुक्ति भारत सरकार के दिल्ली स्थित नौवहन व परिवहन मंत्रालय में हो गयी थी. मैंने कोर्ट की नौकरी से त्यागपत्र दिया और दिल्ली आने-जाने लगा. दिल्ली मैं रेल से ही आया-जाया करता था.यहां आकर मैं दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी का सदस्य बन

गया. अब पढ़ने को मेरे पास एक से एक किताब होती. नये, पुराने हिंदी-पंजाबी के लेखकों-कवियों की पुस्तकों को मैं अपने रेल के दो घंटे के सफ़र में पढ़ने लगा था. अच्छे और श्रेष्ठ साहित्य ने मेरे अंदर नयी समझ और नयी दृष्टि प्रदान की. यहां मैं अपने मित्र रूपसिंह चंदेल के साथ कई बड़े लेखकों से मिला. यही वे दिन थे जब मुझे अपने अब तक के लिखे से ही वितृष्णा होने लगी. धीरे-धीरे मुझे समझ में आने लगा था कि यह सब नक़ली लेखन है. मेरी आंखों के सामने लाचार, विवश मेरी बूढ़ी नानी आने लगी थीं, थके-हारे पराजित से पिता की कातर नज़रें मेरा पीछा करने लगी थीं, मां का बुझा-बुझा सा रहनेवाला चेहरा और छोटी बहनों की आंखों में बनते-टूटते सपने मुझे तंग-परेशान करने लगे थे. मैं अपने आप से प्रश्न करता कि जो कुछ मैं अब तक लिखता रहा हूं, उसमें ये लोग कहां हैं? कहां है उनकी दुख-तकलीफों का चित्रण, जीवन का सच क्या है? मैं अपने आसपास के यथार्थ से मुंह क्यों मोड़ता रहा हूं? मेरे अंदर ऐसे विचारों का प्रस्फुटन ठीक तबसे होने लगा जब से मैं गंभीर साहित्य पढ़ने लगा था. सारिका, साप्ताहिक हिंदुस्तान की कहानियां मुझे जब से उद्वेलित करने लगी थीं. इन कहानियों के पात्र मुझे भीतर तक कुरेदने लगे थे और मुझे अपने लेखन को जीवन की तल्ख़ सच्चाइयों, कड़वे यथार्थ की ओर उन्मुख करने को प्रेरित करने लगे थे.

अच्छा साहित्य न केवल मनुष्य को एक बेहतर मनुष्य बनाता है बल्कि एक लेखक को बेहतर लेखक भी बनाता है. मैंने अपने दादा-नानी के दुःख-दर्दों को बहुत क़रीब से देखा था. पिता को परिवार के लिए हाड़-मांस गलाते देखा था. मां को परिवार की रोटी-पानी की चिंता में हर समय घुलते देखा था. अपने परिवार के साथ-साथ अपने पड़ोस में रहते बूढ़ों की दुर्गति मैंने देखी थी. बुढ़ापे में लाठी का सहारा कहे जानेवाले बेटों की अवहेलना में बूढ़ों को तिल-तिल मरते देखा था. यह एक सामाजिक यथार्थ था मेरी आंखों के सामने, इस यथार्थ की छवियां, इनका चित्रण कथा-कहानियों में देखता तो मैं अपने आप से प्रश्न करता, 'मैं भी ऐसा क्यों नहीं लिखता जिसमें इन लोगों की बात हो.' ये जीवित पात्र मुझे अब बार-बार उकसाने लगे थे. बदलते समय ने मेरे सरोकार और मेरे लेखक होने के कारण को बदलने में मदद की. मैंने पहली कहानी लिखी- 'अब और नहीं' यह एक रिटायर्ड वृद्ध की व्यथा-कथा थी जिसे मैंने अपने ढंग से लिखने की कोशिश की. बूढ़े-बुजुर्ग लोग मेरी संवेदना को झकझोरते रहे हैं और मैं समय-समय पर इनको केंद्र में रखकर कहानियां लिखता रहा हूं. 'बूढ़ी आंखों का आकाश', 'लुटे हुए लोग', 'इतने बुरे दिन', 'तिड़के घड़े', 'उसकी भागीदारी', 'आख़िरी पड़ाव का दुःख', 'जीवन का ताप', 'कमरा' मेरी ऐसी ही कहानियां/ लघुकथाएं हैं.

बेकारी के दंश को अभिव्यक्त करती मेरी कहानी 'दैत्य' हो अथवा 'अंततः' दोनों के पीछे मेरे अपने बेकारी के दिन भले ही रहे हों, पर ये कहानियां व्यापकरूप में भारत के हज़ारों-लाखों बेकार युवकों के संताप को ही व्यक्त करती हैं.

मेरे लेखन के पीछे जो मुख्य कारण व कारक सक्रिय रहा वह था मेरा अपना परिवार. अभावों, दुःखों-तकलीफ़ों में जीता परिवार. पिता के और मेरे अपने संघर्ष. धीरे-धीरे उसमें आस-पास का समाज भी जुड़ता चला गया. ज़रूरी नहीं कि एक समय में लिखने का जो कारण रहा हो, दूसरे समय में भी वही रहे. समय के साथ-साथ ये कारण बदलते रहते हैं. जैसे-जैसे लेखक अपने समय और समाज से गहरे जुड़ता जाता है, उसके सरोकार और लिखने के कारण भी उसी प्रकार बनते, परिवर्तित होते रहते हैं. अगर मैं यहां यह कहूं कि 'प्रेम' भी मेरे लिखने का एक कारण रहा है तो ग़लत न होगा. प्रेम भी हमारी सृजनात्मकता को उर्वर बनाता है और उसमें गति लाता है. जब आप प्रेम में होते हैं, तो सृजन के बहुत क़रीब होते हैं, ऐसा मेरा अनुभव और मानना है. एक समय, मोहल्ले की एक लड़की जो हमारे घर के सामने रहा करती थी, से हुए मेरे इकतरफ़ा प्रेम ने भी मुझसे बहुत कुछ लिखवाया. ढेरों प्रेम कविताएं, कई प्रेम कहानियां. इनमें से कुछ ही सुरक्षित रह सकीं, बहुतों को मुझे नष्ट करना पड़ा. इस संदर्भ में मुझे एक प्रसंग याद आ रहा है. जिस लड़की से मुझे इकतरफ़ा प्रेम था, मैं उसे अपने लेखकीय गुण से इंप्रेस करना चाहता था. मैं अपने को लेखक होने के नाते एक विशिष्ट व्यक्ति मानता था और चाहता था कि मेरे इस गुण के वशीभूत वह मुझसे प्रेम करने लगे. मैंने मालूम किया कि उस लड़की के घर कौन-सा हिंदी का अख़बार आता है. फिर मैंने एक कहानी लिखी और उसी अख़बार में छपने के लिए भेज दी. उस अख़बार में कहानी के साथ लेखक की फोटो भी छपा करती थी. एक रविवार कहानी छप गयी. मेरी फोटो सहित. लेकिन विडंबना देखें कि उस दिन उसके घर में वह अख़बार नहीं आया, हॉकर उसके बदले में दूसरा अख़बार डाल गया. मेरी हसरत पर मानो तुषारापात हो गया.

इस घटना के बाद यह अलग बात है कि उस लड़की से मेरा प्रेम चला. पर इसके पीछे मेरा लेखन कोई कारण नहीं बना. उस लड़की ने मुझे मेरे लेखक होने के नाते प्रेम नहीं किया. धीरे-धीरे हमारा यह प्रेम ऊंची पींगे लेने लगा. हम अकेले में मिलते, सिनेमा देखने जाते, पार्कों में मिलते और बीच-बीच में पत्रों का आदान-

प्रदान भी होता. पुराना किला, चिड़ियाघर, मदरसा, कुतुब, इंडिया गेट, प्रगति मैदान, क्नॉट प्लेस ऐसी कोई जगह नहीं थी दिल्ली की जहां हम न मिला करते. लेकिन फिर वही हुआ जैसा कि एक भारतीय समाज में होता है. उसके मां-बाप ने अपनी बिरादरी में उसका विवाह तय कर दिया. उस समय मेरे दिल के कितने टुकड़े हुए, मैं ही जानता हूं. चोट खाया मैं मजनूं-सा प्रेम कविताएं लिखता रहा और लिख-लिख कर फाड़ता रहा. फिर उसका विवाह हो गया. मुझे लगा, अब हम कभी नहीं मिल पायेंगे. मेरे मां-बाप ने मेरा भी विवाह कर दिया.

कई बरसों बाद सन् १९९२ में इसी प्रेम के अहसास ने मुझसे 'चोट' जैसी प्रेम कहानी लिखवाई जिसे पढ़कर मेरी पत्नी ने नाक-भौं सिकौड़ी थी और कहा था- 'यह क्या कहानी है?' उन दिनों मेरा भीषण एक्सीडेंट हुआ था और बायें पैर की पांच हड्डियां टूट गयी थीं. मैं लगभग तीन महीने तक बिस्तर पर पड़ा रहा था. घर पर मेरे लेखक मित्र मुझे मिलने आया करते थे. रूपसिंह चंदेल तो प्रायः रोज़ मेरा हाल-चाल जानने आया करते. चंदेल ने वह कहानी पढ़कर तारीफ़ की और कहा कि इसे तुरत बलराम को दे दो. बलराम उन दिनों नवभारत टाइम्स का रविवारीय देखा करते थे. बलराम ने कहानी छापी, संग में फ़ोटो और उसके साथ मेरे दुर्घटनाग्रस्त हो जाने की सूचना भी. वर्ष २००६ में लिखी 'लौटना' कहानी में भी असफल प्रेम के उसी अहसास को एक दूसरे कोण से अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है.

लेखक अपने समय और समाज से कट कर कदापि नहीं रह सकता. 'वेलफेयर बाबू', 'औरतहोने का गुनाह', 'गोष्ठी' कहानियां मेरे अपने समय और समाज की कहानियां हैं और मैंने इन्हें लिख कर अपने सामाजिक सरोकार और लेखन के उद्देश्य को स्पष्ट करने की कोशिश की है.

दिल्ली में मेरा परिचय रमेश बतरा से किसी पंजाबी कहानी के हिंदी अनुवाद को लेकर हुआ था. बेशक मैं पंजाबी परिवार में पैदा हुआ, पर हमारे घर पर पंजाबी नहीं बोली जाती. उतर प्रदेश के स्कूलों में जब संस्कृत के स्थान पर उर्दू, बांग्ला और पंजाबी में से कोई एक भाषा पढ़ाने का फार्मूला लागू हुआ, तब मैंने पंजाबी भाषा सीखना इसलिए स्वीकार किया ताकि मैं अपनी मां-बोली से जुड़ा रह सकूं. तीन वर्ष की उस स्कूली पढ़ाई ने मुझे बाद में बहुत लाभ पहुंचाया. मुराद नगर में तो न पंजाबी के अख़बार मिलते थे, न ही क़िताबें. मेरी यह हसरत दिल्ली में आकर पूरी हुई. हिंदी साहित्य की पुस्तकों के साथ-साथ मैंने पंजाबी साहित्य की पुस्तकें भी पढ़ना प्रारंभ कर दी थीं. मैंने पंजाबी की एक कहानी का हिंदी में अनुवाद किया था और इसी सिलसिले में मेरी मुलाक़ात दरियागंज स्थित 'सारिका' के कार्यालय में रमेश बतरा से हुई थी. वह जितना गंभीर और अच्छा लेखक था उतना ही प्यारा दोस्त भी था. हम एक दूसरे के घर भी आते-जाते थे. साहित्य को लेकर बातें हुआ करती थीं. मुझे यहां यह स्वीकार कर लेने में कोई हिचक नहीं है कि अगर रमेश बतरा से मेरी दोस्ती न हुई होती तो मैं लघुकथा लेखन और अनुवाद के क्षेत्र में क़तई न आया होता. पंजाबी से हिंदी में अनुवाद और लघुकथा लिखने की शुरुआत रमेश बतरा ने ही करवायी. वह स्वयं हिंदी का एक प्रतिभा संपन्न कथाकार, लघुकथाकार और अनुवादक था. उसने मुझसे 'सारिका' के लिए पंजाबी कहानियों का अनुवाद करवाया. पंजाबी का अच्छा साहित्य पढ़ने के लिए क़िताबें उपलब्ध करावायीं. मैं कोई नयी कहानी लिखता तो उसे लेकर शनिवार के दिन 'सारिका' के ऑफ़िस पहुंच जाता. घंटों रमेश के पास बैठा रहता, पर कहानी देने की मैं हिम्मत न जुटा पाता. चलने लगता तो वह मेरे संग ऑफ़िस से बाहर तक आता. उसे पान खाने की आदत थी. बाहर आकर पहले वह चाय पिलवाता और फिर अपने लिए पान बनवाता. विदा होते समय मैं बड़े संकोच से उसे कहानी थमाता तो वह मुसकाराते हुए कहता- ''अरे वाह! बधाई ! पर तू इतनी देर से मेरे संग है, पहले क्यों नहीं दी?''

कहानी पढ़कर वह अपनी निष्पक्ष राय देता. उसकी कमियों की ओर ध्यान खींचता और निराश न होने को कहता. एक दिन बोला- ''सुभाष, तुम लघुकथाएं पढ़ते हो? कैसी लगती हैं तुम्हें?''

मैंने कहा- ''पढ़ता हूं. अच्छी लगती हैं. पर अधिकांश मुझे निराश करती हैं.''

''कहानियां भी तो सभी अच्छी नहीं होती. सौ में से नब्बे निराश करती हैं.''

''कोई लघुकथा लिखी है?''

''अभी तक तो नहीं लिखी.''

''तो कोशिश कर. दो-एक लिख पाओ तो मुझे देना.''

मैंने उसके कहने पर दो लघुकथाएं लिखीं और बड़े संकोच से उसे दीं. उसके मुंह में उस समय पान था. उसने थूका और फिर मुसकरा कर कहा- 'यह हुई न बात, यार तू तो बढ़िया लघुकथा लिख लेता है.' उन दिनों 'सारिका' का लघुकथा विशेषांक निकलने वाला था. मेरी पहली लघुकथा 'कमरा' उसने विशेषांक में प्रकाशित की. अब तक न जाने कितनी बार इस लघुकथा का

पुनर्प्रकाशन हो चुका है और कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी है.उन दिनों हिंदी का हर लेखक 'धर्मयुग' में छपने की लालसा रखता था. कहा जाता था कि अगर किसी नये लेखक की उसमें कहानी छप जाती थी तो वह रातोंरात कथाकार बन जाता था. 'सारिका' में मेरी लघुकथाएं छपने के बाद जब एक दिन मुझे 'धर्मयुग' से पत्र मिला जिसमें प्रकाशनार्थ मुझसे लघुकथाएं मांगी गयी थीं, तो मैं ख़ुशी में जैसे झूम-सा उठा. मैंने लघुकथाएं भेजीं और वे 'धर्मयुग' में छपीं. रमेश बतरा ने मुझे बधाई दी और कहा- 'सुभाष, अब तुम पक्के लघुकथा लेखक बन गये.' मेरी कई लघुकथाएं रमेश ने समय-समय पर प्रकाशित कीं. 'सारिका' में दिहाड़ी रफ कॉपी, नवभारत टाइम्स में 'धूप','रंग-परिवर्तन', 'कबाड़', संडे मेल में 'जीना-मरना','सफ़र में' आदि. उन दिनों लघुकथा की पत्रिकाएं जैसे 'लघु आघात', 'क्षितिज', 'सनद' आदि को वही मुझे दिया करता था और उनमें लघुकथाएं भेजने को कहा करता. 'बीमार' लघुकथा का शीर्षक रमेश ने ही सुझाया था. मैंने यह लघुकथा 'मासूम सवाल' शीर्षक से उसके ग़ाज़ियाबाद निवास पर उसकी पत्नी जया रमेश के सम्मुख सुनाई तो उसने कहा - ''इतनी अच्छी लघुकथा को ग़लत शीर्षक देकर क्यों उसका सत्यानाश कर रहा है? इस लघुकथा में पत्नी बीमार है, बच्ची एक फल खाने की हसरत में बीमार होना चाहती है, यह लघुकथा यहीं तक नहीं है. यह उस बीमार व्यवस्था की ओर भी संकेत करती है जिसके चलते हम अपने बच्चों को फल तक खिला पाने की हैसियत नहीं रखते.''

रमेश बतरा लेखन में मेरे लिए पथ-प्रदर्शक की तरह रहा. अच्छी रचनाओं पर वह पीठ भी ठोंकता था और अपने मित्रों-यारों में उसका ज़िक्र भी करता था. लेकिन ख़राब रचना को ख़राब कहने में उसने दो सेकंड नहीं लगाये. ऐसे मित्र का अभाव आज भी खलता है. दिल्ली में आज मेरे कई साहित्यिक मित्र हैं जिनसे साहित्य को लेकर तथा अन्य सामाजिक मुद्दों को लेकर अक्सर बहस होती रहती है. हम प्रायः अपनी रचनाएं एक-दूसरे को सुनाते हैं. उन पर चर्चा करते हैं. इनमें रूपसिंह चंदेल, सुरेश यादव, राजेंद्र गौतम, बलबीर माधोपुरी (पंजाबी कवि), बलविंदर सिंह बराड़ (पंजाबी कथाकार), बलराम अग्रवाल, अलका सिन्हा और रामेश्वर कांबोज 'हिंमाशु' आदि प्रमुख हैं.

मेरे तीन कहानी संग्रह - 'दैत्य तथा अन्य कहानियां (१९९०)', 'औरत होने का गुनाह (२००३)' तथा 'आख़िरी पड़ाव का दुःख (२००७)', दो कविता संग्रह 'यत्किंचित (१९७९)', 'रोशनी की लकीर (२००३)', एक बाल कहानी

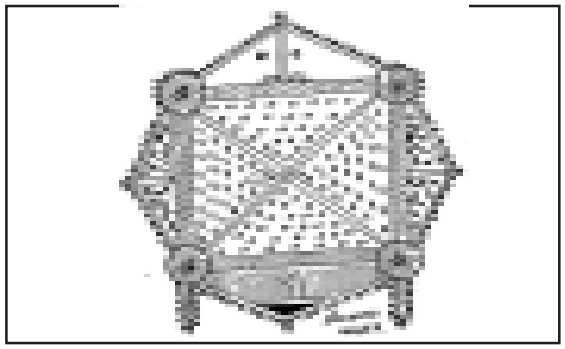

संग्रह-मेहनत की रोटी, एक लघुकथा संकलन- 'कथाबिंदु' (सहयोगी कथाकार हीरा लाल नागर व रूपसिंह चंदेल) प्रकाशित हो चुके हैं.

मुझे हमेशा लगता रहा कि लेखन ही एक ऐसा माध्यम है जो मेरी निजता को सामाजिकता में बदल सकता है. जिनके लिए मैं कुछ नहीं कर पाया, मैं उनकी दुख-तकलीफ़ों को अपने लेखन में रेखांकित कर सकता हूं और उनके लिए कुछ न कर पाने की अपनी पीड़ा को मैं लिखकर कम कर सकता हूं.

इसमें दो राय नहीं कि मेरे अब तक के लेखन के पीछे मेरे माता-पिता के संघर्ष और अभावों भरे दिन रहे हैं, मेरे अपने संघर्ष रहे हैं. लेकिन साथ ही साथ समय ने मुझे अपने समाज और परिवेश के प्रति भी, जागरूक बनाया है. उस समाज में रह रहे हर ग़रीब, दुखी, असहाय, पीड़ित, दलित, शोषित व्यक्ति के प्रति संवेदनात्मक रिश्ता क़ायम किया है. अपनी कहानियों, लघुकथाओं में मैंने सदैव कोशिश की कि इन लोगों के यथार्थ को ईमानदारी से स्पर्श कर सकूं और तहों के नीचे छिपे सत्य को उदघाटित कर सकूं. मुझे नहीं मालूम कि मैं इसमें कहां तक सफल हुआ हूं, पर मुझे अपने लिखे पर संतोष है. मुझे यह मुग़ालता कभी नहीं रहा कि मेरे लेखन से समाज में कोई परिवर्तन हो सकता है. कहानी,लघुकथा और कविता लिखने में अपने समय और समाज के प्रति जागरूक और ईमानदार रहूं, ऐसी मेरी कोशिश और मंशा रहती है. आलोचक, समीक्षक मेरी रचनाओं को लेकर क्या कहते हैं या क्या कहेंगे, इसकी तरफ़ मैं अधिक ध्यान नहीं देता. लिखना मेरा एक सामाजिक कार्य है और मैं इसे अपनी तरफ से आज ५५ वर्ष की आयु में भी पूरी ईमानदारी से करते रहना चाहता हूं. यदि मेरी कोई रचना किसी की संवेदना को जगा पाती है अथवा उसे हल्का-सा भी स्पर्श करती है तो यह भी कोई कम उपलब्धि नहीं है मेरे लिए.

▯ ३७२, टाईप-४, लक्ष्मीबाई नगर,
नयी दिल्ली- ११००२३.

एक बिंदास औरत, 'इस्मत चुग़ताई'

सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर जानी मानी फ़िल्म, टी. वी., मंच कलाकारा व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं. अगले अंकों में पढ़िए- के. ए. अब्बास, रफ़िया मसूल उल अमीन गुलजार आदि के बारे में.)

बात थोड़े बीते दिनों की है. एक किताब पढ़ी थी 'एक अजीब आदमी' जो स्वर्गीय गुरुदत्त की जीवनी पर आधारित थी, लेखिका इस्मत चुग़ताई. किताब क्या थी, मानो एक आईना था, गुरुदत्त के जीवन की एक झांकी, आंखों देखा हाल. एक-एक पल घटना दिमाग़ पर हथौड़े मारती थी. और मैं सोचती- एक नामचीन हस्ती जिसका गीतादत्त से प्रेम विवाह हुआ था, बच्चों का बाप था, घर गृहस्थी का सुख भोग रहा था. क्या उनका प्यार भी युवाओं की तरह अंधा होता है. बीवी-बच्चे दर क़िनार कर दिये जाते हैं. क्या पहला प्यार झूठ होता है. प्यार भी बड़ी उम्र में ऐसा अंधा, कि न मिला तो दारू के साथ नींद की गोलियां लेने की नौबत आ जाये. यह सब पढ़कर सोच कर मेरी रूह कांप जाती. शायद इस्मत आपा की दूसरी कहानियां भी ऐसी ही हैं. जो समाज के अंदर की घटनाओं का ऐसा चित्रण प्रस्तुत करती हैं कि जिन्हें पढ़कर मेरे शरीर का रोआं-रोआं क्रंदन कर उठता तो सोचती न बाबा न इस लेखिका की कहानियां पढ़ना बंद. और 'एक अजीब आदमी' पढ़ने के बाद मैंने इनकी कहानियां पढ़ना बंद कर दिया क्योंकि मुझ जैसी संवेदनशील महिला के दिमाग़ पर इसका भयंकर असर होता था.

श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित शशी कपूर की फ़िल्म 'जुनून' में काम करने जब लखनऊ पहुंची तो इस्मत आपा एक किरदार में मौजूद थीं. परिचय हुआ तो हमारी दोस्ती ऐसी जमी कि पूछिए मत. आपा मुझे एक नेक इंसान और बेहतरीन औरत लगी. ख़ूब हंसती ठसक्के से सिगरेट पीतीं और बेबाक होकर बातें करतीं, वह भी बिना किसी लाग लपेट के. एक निडर और बिंदास औरत थीं आपा. मैं अक्सर उन्हें याद दिलाती - आपा, 'एक अजीब आदमी' तो आपका आंखों देखा अफ़साना है. आपा चुप हो जाती और कहतीं- पहले गुरूदत्त के मुक़ाम पर तो पहुंच तो मैं जानूं. और मैं चुप हो जाती मानो ज़ुबां पर ताला लग गया हो.

हम सब कलाकार जैसे शबाना, नसीर, नफ़ीसा सब अवध क्लार्क होटल में ठहराये गये थे, लिहाज़ा चौबीसों घंटो का साथ था. आपा से बतियाने का भरपूर सुख मिला. मैं कहती - आपा कला तो बड़ी पवित्र चीज़ है लेकिन फिल्मी दुनियां में इसके ख़रीदार मर्द हैं, औरत क्यों नहीं. यहां भी पुरुषों का राज है. आपा मेरी बातें बड़े ध्यान से सुनतीं, मेरे सर पर प्यार भरा हाथ फेरती और कहतीं- सवि, यह मुए मर्द

हर जगह छाये रहते हैं, इनका कहां राज नहीं ! तुम जैसी सीधी-सादी लड़की को इन घाघ लोगों से ख़ूब लड़ना पड़ेगा. इडंस्ट-ी में अपनी जगह ख़ुद बनानी पड़ती है. नहीं लड़ोगी तो पूरी ज़िंदगी पोचम्मा नौकरानी जैसे पात्र करोगी. क्यों नही श्याम से कहती तुम्हें स्मिता या शबाना जैसे रोल दे. ख़ूबसूरत हो, टैलेन्टेड हो, क्या कमी है तुममें. कचूमर कर दिया तुम्हारी प्रतिभा का. आपा की बातों का मुझ पर बहुत असर हुआ और मैंने उनकी फ़िल्म 'कलयुग' में नौकरानी का पात्र करने से जब मना किया तो शशीकपूर को भी ग़ुस्सा आया और श्याम बेनेगल को भी. शायद उनकी ईगो को ठेस पहुंची थी. श्याम ने मुझे अपनी फ़िल्मों में लेना बंद कर दिया और मुझमें भी श्याम बेनेगल के साथ काम करने की इच्छा ख़त्म सी हो गयी. मुझमें फ़िल्म इंडस्ट-ी में बने रहने को समझ पैदा हो रही थी.

आपा 'जुनून' में बूढ़ी औरत के रोल में थीं जो उनकी ही उम्र का था. कभी खांस रही हैं, कभी बीमार हैं, बस उन्हें बिस्तर पर ही लेटे रहना था. मुझसे फुसफुसा कर कहती, ''श्याम समझता है मैं अभिनय कर रही हूं'', कह कर ख़ूब हंसती. ''सवि बिटिया, जरा एक बढ़िया सी पान की गिलौरी तो खिला.'' कह कर बिस्तर पर पसर जाती, ''या अल्लाह यह श्याम ने मुझे कहां फंसा दिया? आपा, मैं बोली- आपकी 'लिहाफ़' कहानी भी बढ़िया लगी. कैसे लिखी ? देखना एक दिन इस पर फिल्म बनेगी. मेरी बात सच साबित हुई, फिल्म बनी जिसमें शबाना और नंदिता थी.

लेकिन तब तक आपा हमसे बहुत दूर जा चुकी थी.

आज दुनियां में आपा नहीं हैं लेकिन आपा के साथ गुज़ारे लम्हें मेरे लिए अनमोल ख़ज़ाना है. कभी-कभी कोई पुरानी फ़िल्म देखती हूं जो आपा की लिखी होती है तो उनकी ख़ूब याद आती है और उनकी कही बातें याद आती हैं- 'मर्दों से अपने हक़ के लिए लड़ना सीखो, सवि.' और मैं सोचती, कब तक लड़ेंगे मर्दों से आपा. यह दुनियां मर्दों की ही तो है !

▯ द्वारा श्री साई नाथ एस्टेट ,डी-३, विंग-बी, सह्याद्री नगर, चारकोप, कांदिवली(प.), मुंबई- ४०० ०६७ (मो. : ९२२३२०६३५६)

लघुकथा

मालती भाभी

▯ आनंद बिल्थरे

मालती भाभी की बात सुनकर मैं सन्न रह गया. कुमार से मुझे, कतई ऐसी उम्मीद नहीं थी. मालती के साथ उसने, प्रेमविवाह किया था. अपनी पत्नी-बच्चों पर वह जान छिड़कता था. एक दिन, कुमार से मैंने उसके दफ़्तर में मुलाकात की.

-हाय अजय, कब आये छुट्टी से?

मुझे देखते ही उसने गर्म जोशी से हाथ आगे बढ़ाया.

-चार दिन हुए, मैंने कहा- किंतु कुमार, मैं यह क्या सुन रहा हूं?

-तुमने ठीक ही सुना है भाई. मालती से मेरी पटी नहीं.

-और बच्चे?

-उनका भी प्रबंध कर दिया है. वे सब मेरे पुराने फ़्लैट में रहेंगे. उनका पूरा ख़र्च मैं दूंगा.

-तुम्हें तो पता ही होगा कि इस तरह दूसरा ब्याह करना कानूनन जुर्म है. इससे तुम्हारी नौकरी भी जा सकती है.

-मुझे धमका रहे हो?

-नहीं, मैं तुम्हें हक़ीक़त से वाकिफ़ करा रहा हूं.

-देखो अजय, निकाह तो मैंने कर लिया. अब उसे छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता. रही बात नौकरी की. सो उसका भी प्रबंध मैंने कर लिया है.

मैं ख़ामोश रहा.

-देखो मित्र, मैं जानता हूं तुम्हें मालती ने सब कुछ बता दिया है. किंतु मैंने भी एहतियात के तौर पर पहले ही काजी से मुसलमान बनने का रुक्का हासिल कर लिया है. अब मुझे कानूनन चार-चार बीवियों का हक है. अगर तुम चाहते हो कि मैं खुल्लमखुल्ला मुसलमान बन जाऊं, तो बेशक मेरे खिलाफ़ कार्यवाही करवा सकते हो.

धर्म निरपेक्षता के नाम पर अल्पसंख्यकों को संतुष्ट करने की दोगली नीति, नियम, कानून के आगे मैं निरुपाय हो गया, और सिर झुकाये चुपचाप, हिंदुत्व की नपुंसकता, असहायता को, कोसते हुए, बाहर आ गया.

▯ प्रेमनगर, बालाघाट ४८१००१ (म.प्र.)

''कथाबिंब'' के नये आजीवन सदस्य

१७३. भारतीय कपास नि.लि.पुस्तकालय, नयी मुंबई
१७४. सुश्री क्षिप्रा तिवारी, इलाहाबाद
१७५. सुश्री पवित्रा टंडन, इलाहाबाद
१७६. श्री कृष्णकांत ''अक्षर'', फर्रुखाबाद
१७७. डॉ. आशा श्रीवास्तव, फर्रुखाबाद
१७८. मनोज कुमार 'प्रीत', लुधियाना
१७९. डॉ. पी.के.माथुर. इंदौर
१८०. सुश्री हरविंदर चोपड़ा. मुंबई
१८१. सुश्री आभा मिश्रा, मुंबई
१८२. श्री देवेंद्र कुमार मिश्र, छिंदवाड़ा
१८३. सुश्री सुमीता केशवा, मुंबई

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य में व्याप्त पाखंड तंत्र और रंगभेद की जांच-पड़ताल

राजेंद्र आहुति

'अंधेरी सुरंग से गुज़र रहे हैं हम' **(उपन्यास)**: ब्रजेंद्र गर्ग
प्रकाशक : पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, **मूल्य** : २२५ रु.

'अंधेरी सुरंग से गुज़र रहे हैं हम' सद्यः प्रकाशित उपन्यास है ब्रजेंद्र गर्ग का. ब्रजेंद्र गर्ग ने लिखा है- 'इस कृति को लिखते समय मुझे बार-बार तलवार की धार पर चलना पड़ा है.' यह तलवार की धार पर चलना जानते हैं क्या है? यह है सच को बिल्कुल सच की तरह जो परिवेशगत स्थितियां हैं, उसे उसी ढंग से कहना ही नहीं, शाश्वत शिनाख़्त के लिए उसी तरह से लिख देना. पूरा उपन्यास सच के रास्ते पर चलकर सच को सही-सही समझने और सही-सही समझाने में पूर्णतः सफल है. हम नासमझ बिना उसे पढ़े किसी पूर्व राग-द्वेषवश सिर्फ विकार से भरे-भरे मन से कह दें कि इस उपन्यास में कुछ भी नहीं है, बस यही है कि साक्षात्कार लेने के लिए ब्रजेंद्र गर्ग जाते हैं चंद्रबली सिंह के पास और साक्षात्कार उन्हें प्राप्त नहीं होता है. बस यही है उपन्यास का विषय. लेकिन, मित्रों ऐसी बात नहीं है. हर किसी को आदमी साक्षात्कार देता रहे, यह भी उचित नहीं है. साक्षात्कार ही तो मांगा था ब्रजेंद्र गर्ग ने, किसी कोरे क़ागज पर हस्ताक्षर तो नहीं मांगा था जिसे देने में इतना टाल-मटोल किया चंद्रबली ने? एक ही झटके में या एक ही बार में सीधा इनकार तो कर सकते थे. न इनकार किया न इक़रार मना कर-करके भी एक प्यार किया. नहीं तो यह उपन्यास हम सभी के समक्ष कैसे आता.... यह संपूर्ण उपन्यास श्री चंद्रबली सिंह की कृपा का ही प्रतिफल है.

किसी कृति की समीक्षा तब तक सही ढंग से नहीं हो सकती जब तक रचनाकार के आर्थिक और मानसिक पक्ष को ठीक से न समझा जाय. यहां मैं बता दूं कि ब्रजेंद्र गर्ग एक ईमानदार और वाराणसी विकास प्राधिकरण में सामान्य लिपिक हैं. एक किराये के मकान में मां, पत्नी और एक बेटे के संग रहते हैं. निश्चित प्राप्त वेतन में अनिश्चित ख़र्च के दबाव में सदा रहते हैं. मन बहलाने के लिए कविता से जुड़े. इसी जुड़ने के भाव में गणेश प्रसाद गंभीर, प्रकाश श्रीवास्तव और राजेंद्र आहुति से वे निरंतर मिलते रहते हैं. चारों का मिलन जब भी संभव होता है, बातें साहित्य की ही होती हैं. इसी वजह से साक्षात्कार के क्रम में जो भी स्थितियां उत्पन्न हुईं, सभी एक-दूसरे से तत्काल परिचित होते रहते थे. बड़े, बड़े हैं इससे हमें कब इनकार है. मगर रास्ता छेंककर चलें, यह भी नहीं स्वीकार है. जो नहीं स्वीकार है उसे भी स्वीकार करने का पाठ पढ़ाता है यह उपन्यास.

वैसे भी चंद्रबली सिंह तो मात्र एक नाम है. साहित्य में सैकड़ों चंद्रबली सिंह बैठे हैं जो अपनी महानता के घमंड में तय करते हैं, बिना किसी से मिले, कि कौन छोटा है, कौन उसके योग्य है, कौन दुत्कार का पात्र है और कौन प्यार का. चंद्रबली सिंह का जीवन कैसा है? वे कैसे रहते हैं? किन-किन विपदाओं में सांस लेते हैं, इसका विस्तार से उल्लेख है 'अंधेरी सुरंग से गुज़र रहे हैं हम'में. इसमें कथा है, कथानक है, पीड़ा है, करुणा है, दया और राग-द्वेष तो है ही, विचार और जीवन-संघर्षों के साथ-साथ आत्म-संघर्ष भी है. इसमें हिंदी साहित्य में व्याप्त पाखंड तंत्र और अघोषित रूप से पैठ बना चुके रंगभेद के विरुद्ध युवा पीढ़ी के संघर्ष की वह पीड़ा है जिसमें न सिर्फ आज की युवा पीढ़ी जी रही है वरन् जीने के लिए मजबूर कर दी गयी है. इसी की पड़ताल ही तो है संपूर्ण उपन्यास में. पृष्ठ२२० पर लेखक ने लिखा भी है- 'पूरे देश में चाहे कितना भी समाजवाद आ जाय..... कितना भी सामाजिक परिवर्तन समाज में हो जाय.... लेकिन समाज से वर्गभेद मिटा पाना किसी के वश की बात नहीं है. हर युग में मार्क्स, लेनिन पैदा होंगे और हर युग में मरेंगे... परिवर्तन भी होंगे, लेकिन पुनः सब कुछ पूर्ववत हो जायेगा. कौन कहता है समाज में परिवर्तन होता है. समाज में परिवर्तन-वरिवर्तन नहीं होता है.... समाज वही रहता है उसका रूप बदल जाता है.....'

कथ्य की भाषा, वाक्य-विन्यास में इतनी पारदर्शिता है कि यदि आप इस उपन्यास को एक बार पढ़ना प्रारंभ कर दें तो बिना अंत तक पहुंचे यह आपके मन को मथता रहेगा. पठनीयता की पूरी क्षमता व्याप्त है. यह उपन्यास विजेंद्र और अशोक पाठक को समर्पित है जबकि समर्पण का असली दावेदार लेखक की मां और पत्नी है जिसकेहिस्से का समय छीनकर बार-बार चंद्रबली सिंह के यहां भागना-भोगना और भोगे यथार्थ को जोग-जोग कर लिखना पड़ा. किसे छोड़ू और किसे नहीं, इस उधेड़बुन में भी लेखक को जीना पड़ा.

उपन्यास के एक कारुणिक पात्र बब्बूजी उर्फ प्रमोद कुमार सिंह प्रोफेसर चंद्रबली सिंह के अविवाहित पुत्र हैं जो अब इस दुनिया में नहीं हैं. उनके बारे में लिखते हुए लेखक ने दर्शाया है कि 'यह कौन-सा मानसिक आघात है जो मानव की शिराओं में

चक्रवात की तरह स्थायी रूप से प्रवेश कर उसे शारीरिक रूप से अक्षम बना देता है. विज्ञान और समाज के लिए तो अजूबे ही हैं बब्बूजी. आघात की स्थिति में हाड़-मांस के पुतले रह जाते हैं. बब्बूजी की बीमारी का कोई जंतु मौक़ा पाकर आक्रमण करता है और बब्बूजी के शारीरिक तंतुओं को झकझोर कर उन्हें ऐसी दुनिया में उठा ले जाता है जहां बब्बूजी असहाय और लाचार हो जाते हैं. बब्बूजी की इस बेचारगी को देखकर प्रोफेसर साहब प्रतिपल उस घुनी लकड़ी की तरह होते जाते हैं जिसके मज़बूत तनों को घुन निरंतर सालता रहता है.'

बहुत ही मार्मिक संवेदनायुक्त वृत्तांत दृश्य उत्पन्न हो गया है बब्बूजी के संदर्भ में. उनके जीवन को एक पूर्णता प्रदान की है लेखक ने. विजेंद्र 'कृति ओर' पत्रिका के संपादक हैं और अति स्नेही हैं चंद्रबली सिंह के. अशोक पाठक भी 'जनपक्ष' के संपादक हैं और निरंतर दरबारी की तरह मिलते-जुलते हैं चंद्रबली सिंह से. विजेंद्रजी को अपनी पत्रिका के लिए चंद्रबली सिंह का साक्षात्कार चाहिए. साक्षात्कार के पात्र हैं लेखक जिसमें सहयोगी की भूमिका उम्मीदवश अशोक पाठक की है. मगर अंततः यह उम्मीद मर जाती है. अपने को यहां असहाय समझ लेते हैं अशोक पाठक और असहाय हो उठता है लेखक. मगर विजेंद्र असहाय नहीं हैं. वे एक दूसरा तीर छोड़ते हैं जो सीधे जाकर लगता है चंद्रबली सिंह के हृदय में. उस तीर का नाम है ज्ञानेंद्रपति. जो शहर में रहते हैं और ब्रजेंद्र से हाल-टोह भी लेते हैं साक्षात्कार के संदर्भ में. लेखक को अधिक दुःख तब होता है जब 'कृति ओर' में चंद्रबली सिंह से ज्ञानेंद्रपति का लिया साक्षात्कार छपे रूप में सामने आता है. तभी ब्रजेंद्र अपने को सर्कस का सातवां बौना समझने लगता है. जो लेखक है नहीं, वह बौना है. बौना वह है जिसने साक्षात्कार नहीं दिया या नहीं देते हैं. इसी को दर्शाता है यह उपन्यास. उपन्यास में एक स्थान पर लेखक कहता है- 'ऊंचाई से ज़मीन पर गिरने की आशंका हर समय बनी रहती है, लेकिन ज़मीन से ज़मीन पर गिरने की संभावना नहीं होती. मैं ज़मीन पर ही हूं. इसलिए ऊंचाई से मेरे गिरने की आशंका नहीं है. वैसे भी पैदा होने से आज तक हमेशा ज़मीन पर ही रहा. पता नहीं क्यों मैं ऊंचाई पर कभी गया ही नहीं. अच्छा ही हुआ जो मैं कभी ऊंचाई पर नहीं गया. वर्ना गिरता तो बहुत चोट लगती. ज़मीन पर रहकर जब भी मैंने ऊंचाई पर देखने का बेलज़्ज़त गुनाह किया, मेरी टोपी पहले ही गिर गयी.'

संपूर्ण उपन्यास में कहीं भी निंदा का स्वर परिलक्षित नहीं होता है. इस उपन्यास का भरपूर स्वागत होना चाहिए और लेखक के साहस की प्रशंसा भी. अंत में उपन्यास के अंतिम कवर पृष्ठ से एक अंश उद्धृत करना चाहता हूं- 'कोई उधार का ज्ञान थोप रहा है, तो कोई कथ्य और तथ्य से मनमानी कर रहा है, तो कोई अपना बखान करने में ही मग्न है. अव्यक्त एवं अस्पष्ट विचारों तथा शब्दों की अंधेरी सुरंग से गुज़र रहे हिंदी साहित्य की रचनाधर्मिता की वास्तविकता पर लिखी गयी पुस्तक 'अंधेरी सुरंग से गुज़र रहे हैं हम' एक ऐसा दर्पण है जो हिंदी साहित्य की मौलिकता के सन्नाटे को तोड़ देता है. उपन्यास का नाम 'अंधेरी सुरंग' ही काफ़ी था 'से गुज़र रहे हैं हम' वाक्य को जोड़ना बहुत निजी हो गया है. आमीन.

▯ ए १३/६८, भगतपुरी, प्रहलादघाट,
वाराणसी- २२१००१

धुंध में चेहरों की तलाश

▯ प्रमोद त्रिवेदी

कोहरे में लिपे चेहरे (कहानी संग्रह) : सूर्यकांत नागर
प्रकाशन : किताबघर ,४८५५-५६/२४ अंसारी रोड़, दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०००२. **मूल्य** : १३०रु.

कोहरा एक झीना आवरण भर ही होता है, जिसमें कुछ स्पष्ट दिखाई नहीं देता. यह स्थिति सच या वास्तविकता के आस-पास एक रहस्य निर्मित कर देती है. पर कोहरा भी अस्थायी स्थिति ही है. वह घनीभूत हो जाता है तो छंट भी जाता है. इसलिए सच से, वास्तविकता से रूबरू होने के लिए थोड़ा इंतज़ार करना चाहिए. हड़बड़ी में तो कुछ भी हासिल नहीं होता, न ही निर्णय लिये और दिये जा सकते हैं. सृजन भी ऐसा ही धीरज भरा काम है. सृजन भी कभी कोहरे को छांटता है तो कभी कोहरा निर्मित भी करता है. लेखक केवल सच या वास्तविकता का प्रवक्ता नहीं होता, वह अपने अनुभूत सच या वास्तविकता का प्रवक्ता होता है. इसमें भी उसकी सृजनशीलता निरंतर हस्तक्षेप करती है. इसलिए वह एक अति सच या अति वास्तविकता को भी रचता है. वह कभी इन्हें लार्जर देन लाइफ़ की तरह व्याप्ति प्रदान करता है तो कभी संकेत भर में इनका समावेश करता है. यह रचना-क्षेत्र की ही ख़ूबी है कि लेखक अपने को, अपने समय में ही नहीं देखता, वह कभी आगे चला जाता है तो कभी पीछे. उसका काम इस सामान्यीकरण अथवा सरलीकरण से भी नहीं चल पाता है कि समय बहुत कठिन और जटिल है. अपने अनुभव और सामर्थ्य के

अनुरूप पाठक के लिए इससे रूबरू होने अथवा टकराने का अवसर देता है.

अपने सद्यः प्रकाशित कहानी संग्रह- 'कोहरे से लिपे चेहरे' में भी कथाकार सूर्यकांत नागर ने अपनी कहानियों में सच या वास्तविकताओं पर से थोड़ा कोहरा हटाने और थोड़ा घनीभूत करने की कोशिश की है. यह जद्दोजहद ही रचना प्रक्रिया है. रचना को पहले पाने के लिए और फिर अपने पाठक के लिए अनुकूल बनाने के लिए.

सूर्यकांत उन कथाकारों में शामिल नहीं हैं, जिन्होंने मान लिया है कि इस सर्वग्रासी समय में सब कुछ समाप्त हो गया है. इसलिए वह 'सब कुछ के अंत' को अपनी कहानियों में जगह नहीं देते. यदि हमारा समय कठिन है तो जो बीत गया वह समय भी आसान समय नहीं था. जब उस समय में भी मूल्य, आदर्श और नैतिकता का अंत नहीं हुआ तो अभी भी ये घनीभूत कोहरे में हैं, नज़र न आते हों तब भी. और ये हैं तो रचना में इनके लिए जगह क्यों नहीं निकलनी चाहिए? यदि हमें पता है कि भूसे में सुई दबी पड़ी है तो उसे पा लेने की कोशिश निरा पागलपन नहीं है. यही तो उम्मीद है जो ज़िंदा रखती है और सक्रिय भी.

इस संकलन की पहली कहानी 'तमाचा' हमारे उस सोच पर प्रहार है कि हमने मान लिया है कि अब कोई भी व्यक्ति, बिना अपने मतलब के किसी से संबंध नहीं रखता. किसी के आने और मुलाक़ात करने की इच्छा कितनी-कितनी शंका-कुशंका का सबब बन जाती है, यही इस कहानी का विस्तार है और उस व्यक्ति के द्वारा अपनी एक किडनी स्वेच्छा से देने का प्रस्ताव इस कहानी का उत्स! मानवता अब भी है और आधुनिकता की सारी क्षुद्रताएं इस अहैतुक प्रस्ताव के सामने बौनी होती नज़र आने लगती हैं, यही इसकी फलश्रुति है. इसी तरह 'अंधेरे में उजास' के शुक्लजी, 'पी.एच.डी. करती लड़की का पिता' के डॉ. सिन्हा, 'अभी बहुत कुछ शेष है' के कैलाश और 'मैं', 'उनका कोई क़सूर नहीं था' के किशोर भाई, 'उठे पांव' के परमेश्वर, हरि और निशा जैसे कथा-पात्र कोहरे में छुपी उम्मीद की किरणें हैं.

सूर्यकांत यदि कोहरे में छुपी किरणों को जगह देते हैं तो कोहरा और उसकी व्याप्ति के लिए भी उनकी कहानियों में अवसर है, बल्कि इसके लिए तो उन्हें ज़्यादा कोशिश भी नहीं करनी पड़ी होगी. 'एक और विभाजन' और 'आदमी और बंदर' हमारे समाज का वह चेहरा है जो क्रूर और अमानवीय है. यदि 'अंधेरे में उजास' में उजास एक पक्ष है तो 'अंधेरा' इन और ऐसी ही कहानियों का कृष्ण पक्ष. इन्हीं कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में काल संचरित हो रहा है और काल को शब्द मिल रहे हैं. 'चुप्पी में लिपटी चीख़' के सूरजभाई साहब और सीमा भाभी, 'टुकड़ा-टुकड़ा ज़िंदगी' के सूद साहब, सरला, मोटवानी, मेहरा, दगड़ू जैसे पात्र वादी-संवादी स्वर की तरह यथार्थ के राग को संपूर्णता से भरते हैं. इस तरह कथाकार अपने समय का पोस्टमार्टम कर रहा है, जिसमें अच्छा और बुरा सब सामने आ रहा है.

सूर्यकांत नागर उन कथाकारों में से हैं जो कहानी को बहुत कलात्मक बनाने में विश्वास नहीं करते. जबकि समाज और समाजगत धारणाएं बहुत तेज़ी से बदले हैं. विघटन और विश्रृंखलता के इस दौर में कहानी का परंपरागत ढांचा भी विघटित और विश्रृंखलित हुआ है. कहानी के क्षेत्र में भी हैरतअंगेज़ प्रयोग हो रहे हैं. मनुष्य ही ग्लोबल नहीं हुआ, कहानी भी ग्लोबल हो गयी है. कहानी की जटिलता ने उसे पाठक से दूर कर दिया. अब पाठक ख़ुद अपनी उलझनों में उलझा है तो वह उलझी हुई कहानी मेंऔर उलझकर अपनी उलझन को बढ़ाना क्यों चाहेगा भला? उसका लक्ष्य तो यही होगा कि जितनी देर वह रचना में रमे, अपनी उलझनों को भूल जाये. न उसे कला की बारीकियों से मतलब है, न ही गंभीर विमर्श से. इस दृष्टि से- 'कोहरे से लिपे चेहरे' की कहानियां पाठक को ज़रूर आकर्षित करेंगी. पाठक भी आलोचक होता है और उसकी राय भी महत्वपूर्ण होती है जो बहुत सैद्धांतिक बात चाहे न करे, पर दो टूक राय वह अवश्य देता है.

परिवर्तन प्रकृति का नियम है, पर व्यापक परिवर्तन की प्रक्रिया में भी कुछ शाश्वत बना रहता है. परिवर्तन के तेज़ बहाव में तो इस टकराहट में करुणा उपजती है. करुणा किसी स्तर पर उपचार का काम भी करती है. कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप से. यह पक्ष भी कई बार लेखक की अभिप्रेरणा बन जाता है. संभवतः सूर्यकांत नागर भी रचना के इस प्रयोजन में विश्वास रखते हैं. इसीलिए अपनी कहानियों में वे बुराइयों, अंतर्विरोधों, छद्म, पाखंड और मनुष्य के ओछेपन को सामने लाते हैं तो उसकी उदादत्ता, उसके विश्वास, उसकी अच्छाइयों और मानवीय गुणों को व्यक्त करने में कोताही नहीं बरतते हैं.

सूर्यकांत की कहानियां बहुत प्रयोगधर्मी नहीं हैं. क्या प्रयोग की कोई उपादेयता नहीं है? क्या प्रयोग की चुनौती को स्वीकार रचना से या रचना के लिए जूझना भी अपने आप में बड़ा सुख नहीं है? ये सवाल कथ्य को लेकर नहीं, उनकी कहानी के फॉर्म को लेकर उठते हैं. यदि फॉर्म ही रचना को रचना बनानेवाला महत्वपूर्ण

घटक मानते हों तो. श्री नागर अपनी अब तक की लंबी रचना-यात्रा तय करके उस मुक़ाम पर हैं जहां उन्हें प्रयोगधर्मी भी होना चाहिए और अपनी ही रचना के समानांतर भी.

कुल मिलाकर 'कोहरे से लिपे चेहरे' की सत्रह कहानियां जीवन के सत्रह स्वाद हैं. कुछ पूरक, कुछ भिन्न, कुछ नये और कुछ पारंपरिक भी. ये सारे स्वाद रोचक हैं और रेसैपी भी आकर्षक है.

मन्वंतर, २०५, सेठी नगर,
उज्जैन (म.प्र.) ४५६०१०

प्रेम का आलौकिक रुप

सुमीता पी.केशवा

दबे पांव...प्यार (उपन्यास) : **संतोष श्रीवास्तव**
प्रकाशन : अमित प्रकाशन, ९७/के.बी.,कविनगर,
गाज़ियाबाद- २०१००२ (उ. प्र.) . **मूल्य** : १८०रु.

संतोष श्रीवास्तव जी की सर्जना 'दबे पांव..... प्यार' प्रेम के गूढ़ पहलुओं का वह सुंदर दस्तावेज़ है, जिसे न सिर्फ़ वह महसूस कर सकता है, जिसने सच्चा प्रेम किया हो. वरन वह भी सोचने पर मजबूर हो जायेगा जिसने प्रेम को अपने भीतर प्लावित होने से पहले ही रोक लिया हो, या फिर मजबूरन अपना रास्ता बदल लिया हो.लेखिका ने बड़ी ही ख़ूबसूरती के साथ प्रेम के सार्थक स्वरूप का वर्णन किया है. लेखिका के अनुसार स्थूल रूप में साथ रहना ही जुड़ाव नहीं है. जुड़ाव तो मन का होता है, जो सैकड़ों मीलों की दूरी होने के बावजूद भी प्रभावी होता है. यानि कि प्रेम का अद्वैत भाव ही प्रेम को उदात्त बनाता है.

उपन्यास की नायिका मीनल व नायक प्रकाश का निश्चल प्रेम तथा तमाम रूमानी रिश्तों के बीच पवित्रता का अटूट बंधन! उनके प्रेम में जुगुप्साजनक उछृंखलता व वासना का कहीं नामोनिशान न था. यदि होता भी तो वे ज़रूर समाज को ताक पर रख, अपनी पूर्णता को प्राप्त करते. दोनों ने अपने उस प्यार की पौध को दुनिया की नज़रों से बचाते हुए सींचे रखा बिना किसी स्वार्थ के! प्रकाश जो मीनल की रग-रग में समाया हुआ है. जिसके बिना उसकी ज़िंदगी की सोच भी असंभव है. एक तरफ सामाजिक परंपरा.... एक तरफ प्रकाश का सुनहरा भविष्य तो एक तरफ अपने आप को रूप देने का संघर्ष! मीनल व प्रकाश द्वारा अपने प्यार का त्याग विवशता नहीं प्रतिबद्धता थी समाज के प्रति! प्यार की पराकाष्ठा का विलक्षण स्वरूप! यह सच है कि प्यार की पराकाष्ठा त्याग में ही परिपूर्णता को प्राप्त करती है. जैसे मीनल की आकांक्षा केवल प्रकाश के प्रेमरूपी जल में प्लावित होने की है. यह जानते हुए कि इस जीवन में प्रकाश उसका कभी भी नहीं हो सकता बावजूद इसके, अपने जीवन में आये हुए युवकों को अस्वीकृत कर देना, प्रेम का यह आलौकिक किंतु आबद्ध रूप है. मीनल जानती है कि उसका प्रारब्ध क्या है. फिर भी अपने प्रेमपात्र के लिए प्रेमनीर बरबस छलक आना व उसके साथ बिताये लम्हों में अंतर्लीन हो जाना, यहां पर प्रेम के दैवीय स्वरूप को लेखिका ने बड़ी ही ख़ूबसूरती के साथ सार्थक किया है.

मीनल एक पढ़ी लिखी, संगीत के प्रति समर्पित बेहद सुघड़ लड़की है. जो अपने लक्ष्य को प्राप्त तो कर सकती है पर अपने रास्ते अपनी मर्जी से तय नहीं कर सकती है. समाज को ख़ुश रखने के लिए स्वयं बलि चढ़ जाना! अपनी इच्छाओं का दमन करना! सामाजिक व पारंपारिक मान्यताओं की आड़ लेकर प्रेम हमेशा से ही हारा है! थोथी मान्यताओं पर कुर्बान होने से सुख नहीं दुख का आह्वान! वैसे भी प्रेम को हर मोड़ पर अग्निपरीक्षा देनी पड़ती है. जैसे राजुल का प्रकाश के लिए एक तरफा प्रेम! दिल में कसक उठने के साथ ही प्रकाश के लिए राजुल का चुनाव करना मीनल के लिए किसी यम-यातना से कम न था. यह भी सच है कि प्यार अगर भटकाव की राह है. तो ठहराव की भी! मीनल द्वारा सारे प्रयत्नों को जुटाकर प्रकाश को बिखरने से बचा लेना, एक दूसरे के लिए त्याग की भावना का सुंदर स्वरूप है.

विलक्षण-प्रतिभा की धनी मीनल के सुकोमल मन में यह बात गहरे पैठ गयी कि उसका जन्म प्रार्थित न होकर प्रीतिबिद्ध है. अपराध बोध से ग्रस्त मीनल का दिन प्रतिदिन टूटते जाना. स्वयं को रूप देने की जुगत करने की कोशिश में अपने पति अतुल के साथ सामंजस्य व समरसता बनाये रखने का प्रयत्न करने के बावजूद वह उससे दूर होती चली गयी. दोनों के बीच सतत स्वीकृति-अस्वीकृति के उहापोह में फंसी मीनल यह भी चाहती है कि अतुल रोक ले उसे एबॉर्शन करवाने से.....! अधिकार चाहती है वह अतुल का स्वयं के ऊपर....! परंतु अतुल की तो दिलफेंक अदाएं कई गुल खिला रही थीं, जो टूटी हुई मीनल को और भी ध्वंस किये जा रही थीं. पुरुष प्रदत्त दासीत्व से मुक्ति पाने की चेष्टा में वह उस बच्चे को जन्म नहीं देना चाहती है. क्योंकि जहां प्यार नहीं वहां संसार कैसे स्थापित हो सकता है. न चाहते हुए भी भ्रूण हत्या का निर्णय व मूक आक्रंदन मीनल के लिए भयंकर यंत्रणा की घड़ी थी.

अतुल ने मीनल की देह पर तो कब्जा पा लिया था पर वह उसका दिल न जीत सका. चाहता तो अतुल मीनल को प्यार से हासिल कर सकता था. लेकिन अतुल ने मीनल को तोड़कर रख दिया था. मीनल कभी भी अतुल के प्यार में वह शिद्दत महसूस न कर पायी जो औरत की स्वाभाविक क्षमता होती है. यानि कि पुरुष के कौन से स्पर्श में प्यार मौजूद है और कौन से स्पर्श में वासना. प्यार जिसका स्पर्श मात्र इंसान को अभिभूत कर देता है. प्यार का अंकन पोर-पोर में लहू के रूप में बहने लगता है और इंसान भूल जाता है स्वयं को अपने प्यार में आत्मसात करके. लेकिन अतुल ने कभी ऐसी कोशिश ही नहीं की कि वह तड़पती मीनल को अपने प्यार के आवेग से सिहराता.

अतुल द्वारा उपेक्षित, प्रकाश से दूरी, अनिच्छित जन्म के दुख से मीनल का धीरे-धीरे ध्वंस होना. और फिर सालों बाद प्रकाश का आना, वह भी तब, जब मीनल असाध्य रोग की अंतिम अवस्था में अपनी सांसों की डोर थामे प्रकाश का इंतज़ार कर रही है. लेखिका ने इस उपन्यास के माध्यम से प्यार के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया है, जो आज स्वार्थ के कारण कुंद होता जा रहा है. उपन्यास के अंत में दिल को छू लेनेवाला वार्तालाप ''मीन, सौंदर्य कभी झूठा नहीं होता. वह हर बार नया होता है.'' यह वाक्य नारी की पवित्रता के झंडाबरदार लोगों पर एक करारा तमाचा है. प्रेम की महत्ता को ईश्वर तुल्य रखते हुए लेखिका ने शब्दों का चयन व गठन इस प्रकार से किया है कि पाठक हर शब्द को महसूस करता हुआ स्वयं को उसमें आत्मसात कर लेता है. पहाड़ों के प्राकृतिक सौंदर्य का ख़ूबसूरत वर्णन मन को ठंडक पहुंचाता है. सही मायनों में उपन्यास ''दबे पांव.....प्यार'' बेहद रोचक, पठनीय, व ख़ूबसूरत है. इसके लिए लेखिका संतोष श्रीवास्तव जी बधाई की पात्र हैं.

□ □ २२०४ क्रिमसन टॉवर, आवुर्षी रोड, लोखंडवाला, कांदिवली (पू.), मुंबई- ४००१०१

प्राप्ति स्वीकार

एक और गंधारी (कहानी संग्रह) : **नरेंद्र कौर छाबड़ा,** किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२. मू. २०० रु.
नये समीकरण (क. सं.) : **चेतना भाटी,** संजीव प्रकाशन, ३६१३, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२. मू. १५० रु.
समाचार समाप्त हुए (क.सं.) : **गीतांजलि चटर्जी,** रचना प्रकाशन, १५ गोयागेट सोसायटी, प्रतापनगर रोड, बड़ौदा (गुज.). मू. १५०रु.
अपना गांव (क.सं.) : **डॉ. रामप्यारे प्रजापति,** दीपिका भार्गव प्रकाशन केंद्र, विकवाजितपुर, हनुमानगंज, सुलतानपुर (उ.प्र.). मू. ४० रु.
बदलते रंग (क.सं.) : **देवेंद्र कुमार मिश्रा,** कीर्ति प्रकाशन, अमरावती रोड, नागपुर- ४४००२३. मू. १२५ रु.
बीसवीं सदी के चर्चित व्यंग्य (व्यंग्य) : **डॉ. विजय अग्रवाल,** किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०००२. मू. ५०० रु.
मुझ-सा भला न कोय (व्यंग्य) : **एम.एल.खरे,** दिशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर, नयी दिल्ली- ११००३५. मू. १८० रु.
अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो (नाटक) : **विभा रानी,** किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०००२. मू. १०० रु.
कुछ अपनी, कुछ परायी (निबंध) : **शशांक अत्रे,** किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०००२. मू. ३०० रु.
ककुभ(ल.सं.): **सं. कुंवर प्रेमिल,** एम.आई.जी., विजय नगर, जबलपुर (म.प्र.) मू. १०० रु
वर्ष २००९ की प्रतिनिधि लघुकथाएं (ल.सं.) : **सं.कुंवर प्रेमिल,** मांडवी प्रकाशन, ८८ रोगनग्रान, देहली गेट, गाजियाबाद (उ.प्र.) २०१००१. मू. ५० रु.
लघुकथाओं का पिटारा (ल.सं.) : **डॉ.योगेंद्र शुक्ल,** किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०००२. मू. १६० रु.
जीना चाहता हूं (कविता संग्रह) : **भोलानाथ कुशवाहा,** सी-५६/यूजीएफ, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-२, गाज़ियाबाद (उ.प्र.) २०१००५. मू. ३०० रु.
वक़्त के मंज़र (काव्य) : **डॉ. ब्रह्मजीत गौतम,** नमन प्रकाशन, ४२३१/१, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०००२. मू. १०० रु.
कांजी में डूबा रसगुल्ला (हास्य-व्यंग्य) : **गौरी शंकर मधुकर**, सुलोचन प्रकाशन, बापूजी का थान, पुरानी जेल के सामने, बीकानेर-५. मू. ५० रु.
नेतापुराण (दोहा-छंद) : **(स्व.) डॉ. जीवितराम सेतपाल,** अयन प्रकाशन, १/२०, महरौली, नयी दिल्ली- ११००३०. मू. १२० रु.
भाव निर्झर (हिंदी-मराठी कविता) : **भगीरथ शुक्ल,** शिव प्रकाशन, शिव-पार्वती निवास, मार्केट रोड, बोईसर, ठाणे- ४०१५०१. मू. ७० रु.

'कपिल' की कुंडलियां

कपिल कुमार

झटका लग जाये कभी
होता बंटाधार,
नशा हिरन होता सभी
थमता सोच-विचार।
थमता सोच-विचार,
अक़्ल भी चकरा जाती;
जीवन की रफ़्तार
अचानक 'ब्रेक' लगाती।
कहें 'कपिल' कविराय-
अजब कुदरत का मटका,
ख़ाली हो या भरा,
सभी को देता झटका।

टूटा दिल का आइना
बिलकुल बेआवाज़,
सूखा सांसों का चमन
हुआ बेसुरा साज़।
हुआ बेसुरा साज,
राग सब रूठे-रूठे;
गूंगे लगते शब्द
अर्थ हैं झूठे-झूठे।
कहें 'कपिल' कविराय-
जल गया बूटा-बूटा,
ऐसा मिला नसीब
अक्स भी निकला टूटा।

४, गंगा भवन, २४वां रास्ता, बांद्रा (प.), मुंबई-४०० ०५०.

लघुकथा

भोलापन

उर्मि कृष्ण

दूरदराज़ जंगल में बसे किसी गांव में एक साधु महात्मा घूमते रमते पहुंच गये. आधुनिक सभ्यता से अनजान गांव के लोगों ने उन्हें पहले तो आश्चर्य से देखा. फिर परिचय जाना.

कोई विशिष्ट आत्मा गांव में पधारी है यह जानकर उन्होंने महात्माजी का ख़ूब आदर सत्कार किया. साधु कुछ दिन वहीं ठहर गये.

नित्य सांझ की सभा में वे गांववालों को ज्ञान की बातें बताते जिसे लोग मुंह बाये सुनते रहते. एक दिन साधु ने गांववालों से पूछा, 'इस गांव में मुझे मंदिर, न मस्जिद, न गिरजा, न कोई देव-स्थान कुछ भी नज़र नहीं आया, क्या तुम्हारे गांव में आज तक कोई बड़ा आदमी पैदा नहीं हुआ?'

भोले ग्रामीण एक दूसरे का मुंह ताकने लगे. फिर एक वृद्ध ने आगे बढ़कर कहा, 'महात्मा जी यहां तो सब बच्चे ही पैदा होते हैं बड़ा तो कोई नहीं हुआ आज तक.'

साधु ने अपना सिर ठोंक लिया. फिर दूसरा प्रश्न पूछा, 'इस गांव में कोई साधु महात्मा भी नहीं हुआ?'

गांव वालों ने सिर हिलाकर कहा, हम तो नहीं जानते.

साधु कुछ ऊंचे स्वर में बोले, 'अरे मूर्खों, कोई महात्मा यहां हुआ होता या आया गया होता तो उसकी कोई समाधि, कोई स्थान, कोई चबूतरा तो बना होता? बड़ा बंजर गांव है तुम्हारा. आख़िर तुम किसके सहारे जीते हो यहां?'

उत्तर में सभी ग्रामीणों ने अपने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये.

एक जवान ने आगे बढ़कर पूछा, 'महात्मा जी समाधि का मतलब बताओ तो हम उसे बना देंगे.'

साधु ने संक्षिप्त में 'समाधि' का अर्थ बता दिया.

उस दिन ग्रामीण चले गये.

दूसरे दिन साधु ने देखा कि ग्रामीण बल्लम, कस्सी, संबल लिये उनकी ओर आ रहे हैं. कुछ ने आते ही एक गढ़ा खोदना शुरू कर दिया. यह सब देख साधु ने आश्चर्य से पूछा, 'आज तुम सब क्या कर रहे हो?'

ग्रामीणों ने कहा, 'महात्मा जी आज हम समाधि बनाकर ही दम लेंगे. आप आ गये हैं तो अब हमारा गांव बंजर नहीं रहेगा.'

ग्रामीणों का उत्तर सुन साधु अपना दंड कमंडल छोड़ बेतहाशा जंगल की ओर भागते नज़र आये.

ग्रामीण उन्हें पुकारते रह गये.

ए-४७, शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी- १३३००१

ग़ज़लें

(१)

पांवों के साथ पांव मिलाती है ज़िंदगी,
आकाश तक उठा के गिराती है ज़िंदगी।
हंसने के चार पल कभी अपने न हो सके,
रोते हुए को और रुलाती है ज़िंदगी।
पलकों की पालकी में दिया दर्द को सुला,
सोते हुए सपन को जगाती है ज़िंदगी।
शीतल बयार चाहिए जीने के वास्ते,
क्यों बेवजह ही आग लगती है ज़िंदगी।
लाये न साथ लेकिन लिये जा रहे कफ़न,
नंगे बदन को इस तरह सजाती है ज़िंदगी।
सांसों की लेखनी से लिखी आख़िरी ग़ज़ल,
खेल सांप-सीढ़ी का खिलाती है ज़िंदगी।
सिकंदर बन के भी मंज़िल है सबकी एक,
नज़र पर पड़ा परदा हटाती है ज़िंदगी।
हर चीज़ है धुआं-धुआं दुनिया में तो 'कपिल',
मौत का भी झुनझुना बजाती है ज़िंदगी।

(२)

कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी बहुत ज़रूरी है,
नज़रों का कुछ पारखी होना भी बहुत ज़रूरी है।
छलछलाते हुए आंसू ग़म के हैं या ख़ुशी के हैं,
सच्चाई जानने को रोना भी बहुत ज़रूरी है।
धरती से सोना निकलेगा या कंकर बिखेरेगी,
पानी की बूंदों से भिगोना भी बहुत ज़रूरी है।
हर सपनों की हक़ीकत स्वर्ग है या नर्क है यारो,
देखने को आंख मूंद सोना भी बहुत ज़रूरी है।
जब किसी के दिल में उगानी हो प्यार की फ़सल 'कपिल',
तंत्र-मंत्र और जादू-टोना भी बहुत ज़रूरी है।

कपिल कुमार
४, गंगा भवन, २४वां रास्ता,
बांद्रा (प.), मुंबई- ४०० ०५०.

(१)

हम पै इतना रहम कीजिए,
आना-जाना ये कम कीजिए।
नज़रें हम पै उठाते हैं लोग,
हम तो बेबस हैं, क्या कीजिए।
दिल लगाकर बड़ी भूल की,
किससे फ़रियाद अब कीजिए।
ख़्वाब का इक बनाया महल,
ढह गया उसका क्या कीजिए।
कितनी है अपनी लाचारगी,
देखिए, पर न कुछ कीजिए।
ज़ोर अपनों पै चलेगा नहीं,
ग़ैर से शिकवा क्या कीजिए।
हम चले ज़ायेंगे यूं 'नियाज',
बज़्म में जाके क्या कीजिए।

(२)

ये गाके लोरियां मुझको सुला गया कोई ,
मुझे मेरे ग़म से भुला गया कोई।
सफ़र में जब मेरी मंज़िल क़रीब आ पहुंची,
मैं लौट जाऊं ये कहकर बुला गया कोई।
जो फ़ैसले हैं अहम इस तरह नहीं होते,
कभी हंसाते हंसाते रुला गया कोई।
किसी के दर्द की कोई वजह तो होती है.
ये बात और है उनको भुला गया कोई।
अजल औ' ज़ीस्त का कैसा अजीब झूला है,
इशारा मिलते ही इसको झुला गया कोई।
'नियाज़' सोच के मेरा कोई वजूद नहीं.
वो शाख़ जिस पै नशेमन जला गया कोई।

प्रो भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़'
एफ-एफ-४, बी ब्लॉक, सनपॉवर फ़्लैटस्
गुरुकुल रोड, अहमदाबाद- ३८००५२

डॉ अनन्तराम मिश्र 'अनंत'

बिन पानी सब सून

लोग-लाज-भय, शील अब हुई सादगी ढेर;
बनजारा फैशन चला सब पर पानी फेर।
इस युग में भी कर रहे तुम घूंघट की बात;
उतर गया है आंख का पानी ही जब तात!
दुर्लभ हुई चरित्र में, चिंतित साधु समाज ;
पारदर्शिता है सुलभ पहनावे में आज ।
किसमें नैतिक चैतना, तोड़ स्वार्थ के फंद-
दुराचरण का अब करे लोटा-पानी बंद ?
पानी-पत्ता दूर है भोजन टेढ़ी खीर ;
ब्याहा बहना को कहां? कभी सोचना वीर ।
राजनीति की गैल का वह है फक्का छैल,
पड़ा घड़ों पानी, मगर धुला न मन का मैल।
सुख-व्यंजन जिनको दिये जीवन-थाल परोस,
पानी पी-पीकर रहे वे ही मुझको कोस ।
पितरों को पानी न दे तिल-चावल के साथ,
पहले देख कि द्वार पर प्यासा वृद्ध अनाथ।
पछताता क्यों, खेल तू और लाटरी रोज?
पानी में पैसा बहा, खोज सके तो खोज।
देख उसे खाता हुआ संयत रही न भूख ;
मुंह में पानी आ गया, गया आंख में सूख।
बिना प्रेम सूने सदन, सौरभ बिना प्रसून ;
ज्योति बिना सूने नयन ''बिन पानी सब सून।''

तुम्हारी हंसी

प्राण! मुझको लुभाती तुम्हारी हंसी।
प्राण तक खनखनाती तुम्हारी हंसी।
चांदनी-सी कभी, मोतियों-सी कभी
कांति ले जगमगाती तुम्हारी हंसी।
मैं कहीं भी, किसी हाल में भी रहूं;
याद आती-बुलाती तुम्हारी हंसी।
ओठ विद्रुम, नयन पद्मरागी छटा-
रत्न-मोती लुटाती तुम्हारी हंसी।
खेल ही खेल में पारिजातक खिला,
खिल स्वयं, खिलखिलाती तुम्हारी हंसी।
रात-दिन नील-श्वेताम्बुजों पर सदा-
भृंग-सी गुनगुनाती तुम्हारी हंसी।
जिंदगी जब सताती-रूलाती मझे,
धैर्य दे तब हंसाती तुम्हारी हंसी।
स्नेह भरती अथक देह के दीप में,
ज्योति मन में जगाती तुम्हारी हंसी।
खूब हंसती रहो, मुस्कुराती रहो,
यह तुम्हारी हंसी है हमारी हंसी।

केन ग्रोअर्स नेहरु (पी.जी) कॉलेज,
गोला गोकर्णनाथ, खीरी (उ.प्र.) २६२८०२

पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया 'कथाबिंब' की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय, मनी ऑर्डर फॉर्म पर 'संदेश के स्थान' पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित साफ़-साफ़ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

- संपादक

लघुकथा

समझौते की दीवाली

कुंवर प्रेमिल

उसे दो दिन की मजदूरी मिली थी. ख़ुश हो गया था. भाग्य से पहली बार दीवाली के दो दिन पहले उसे इस बार ठेकेदार ने दो दिन की मजदूरी दीवाली से पहले बांट दी थी.

वह दूकान जा पहुंचा. उसने पटाखे, मोमबत्ती, लक्ष्मी जी की मूर्ति, तेल आदि का भाव पूछा तो दीवाली डगमगा गयी. सारे पैसे तो दीवाली ले जायेगी, उसका तो दिवाला पिट जायेगा!

उसने कयास लगाया- अरे कुछ नहीं होगा, पटाखे बिल्कुल गैर ज़रूरी हैं. सामने की हवेली में फूटेंगे तो बच्चे को वही दिखा देंगे. मोमबत्ती से क्या लेना-देना, हवेली में प्रकाश में ही दीवाली मना लेंगे.

बच्चा ज़रूर जिद पकड़ेगा. उसको लेकर शहर घूमने निकल लिया जाये, रोशनी, पटाखे देख-देख ख़ुश हो लेगा. रात ग्यारह बजे से कम क्या लौटा जायेगा. बच्चा आते ही सो जायेगा. लक्ष्मी मैया तो महलों में विराजती है, झोपड़ियों से उसे क्या लेना-देना.

उसने थोड़े से दिये, थोड़ा तेल-बत्ती खरीदी, खाने-पीने का सामान लिया और घर की तरफ चल दिया. अगले दो दिनों का खाने का मीजान बिठा लेना ही समझदारी थी. इसी तरह उसकी समझौते की दीवाली संपन्न हो गयी थी.

एम.आई.जी-८, विजयनगर,
जबलपुर (म.प्र.) ४८२००२

उद्विग्न क्यों है मन?

डॉ. रामदुलारे लाल पाठक

बह रहा क्षण-क्षण समय की धारा में जीवन उद्विग्न क्यों है मन?
ज्योत्सना पर्यंक पुलकित
व्योम पलकों में बसाये,
धरणि अलकों में समेटे
सुरभि उद्वर्तन लगाये,
नभ-निलय में घूम ले तू प्राण-प्रियतम संग,
मुक्त अंबर, पथ पवन है, मुक्त तेरा तन,
उद्विग्न क्यों है मन?
दिव्य सुषुमा-मय मनोरम
छलकता मधु-कलश अपना,
जगमगाते हीर-कण में
है स्वयं का ही थिरकना
अरुण-अरुण में उषा मिस चटक होते रंग,
नित्य, नियमित है किसी का अपरिमित सर्जन,
उद्विग्न क्यों है मन?
चांदनी मन-भावनी में
लहर उठती क्यों हृदय में,
कौन जगता आ रहा है
युग-युगों से रवि-उदय में,
मत्त मलयज जा रही किस अलख प्रिय तम-संग,
ज्वार बन कर उर-उदधि का ऊर्ध्व को चिन्मन
उद्विग्न क्यों है मन?

५/१३०, महावीरगंज-२, फर्रुखाबाद -२०९६२५

ग़ज़ल

फ़र्क तो मुझमें भी आया

गोपाल कृष्ण सक्सेना 'पंकज'

फ़र्क तो मुझमें भी आया, हां मगर इतना नहीं,
आपकी सूरत में लेकिन आपका चेहरा नहीं।
मत सताओ एक बूढ़ी झील का पानी हूं मैं,
अब मुझे दरिया के माफ़िक दूर तक बहना नहीं।
काट दर्जी ने दिया, फिर धोबियों ने धो दिया,
जिस्म तो कपड़ा है ख़ालिस रूह का गहना नहीं।
क़ब्र जैसा लग रहा है जिस्म का कोठा मुझे
बदचलन सांसों के घर में अब हमें रहना नहीं।
सुननेवाले भी हमीं है कहनेवाले भी हमीं
इस ग़ज़ल के बाद फिर 'पंकज' को कुछ कहना नहीं।

२५४, मोतीनिधि कॉम्पलेक्स,
छिंदवाड़ा (म.प्र.)- ४८०००१